हमारे प्रमुख साहित्यकार

[संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण]

लेखक—

श्री रामनारायण मिश्र एम० ए०
(हिन्दी तथा संस्कृत)

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हास्पिटल रोड, आगरा।

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

चतुर्थ संस्करण—१९५८
मूल्य १॥)
अथवा १५० नये पैसे

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

विषय-सूची

भूमिका

हिन्दी का आदिकाल वीरगाथा काल से माना जाता है। उस समय भारत पारस्परिक मनोमालिन्य से ग्रसित था, पारस्परिक फूट झंझा-वात की भाँति उसका अस्तित्व समूल नष्ट करने के लिए तुली हुई थी। उसी समय मुसलमानों के आक्रमणों ने भी भयानक आतंक फैला दिया था। सर्वत्र ही अशान्ति का वातावरण था। इस संक्रमण काल में भी कुछ सच्चे स्वदेश भक्त अपने देश के संरक्षण में जुटे हुए थे। कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता ही है। अतएव तत्कालीन चारण-भाट भी अपने अपने आश्रय-दाताओं के गुण-गान करने लगे, और वीर-रस-पूण कविता द्वारा उनके हृदय में वीर रस का संचार करने लगे। यही कारण है कि प्रारम्भिक युग की कविता इसी प्रकार के वीर-रस से परिपूर्ण है। उसमें स्वदेश प्रेम भी पूर्ण मात्रा में है। सातवीं शती से तेरहवीं शती तक इसी प्रकार का वातावरण रहा। समय के परिवर्तन से कलहपूर्ण अशान्त वातावरण कुछ शान्त हुआ, और सन्तप्त एवं उद्विग्न प्रजा ने कुछ ठन्डी साँस ली। हमारा हिन्दी साहित्य भी इसी कालक्रम के अनुसार विभाजित है। वह भिन्न-भिन्न सामाजिक और राजनीतिक विचारधाराओं से पूर्णतया प्रभावित है। संक्षेप में उसका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है:—

(१) वीरगाथा काल अथवा आदिकाल—संवत् १०५० से १३७५ वि० तक।

(२) भक्तिकाल अथवा पूर्वमध्यकाल—संवत् १३७५ से १९०० वि० तक।

(३) रीतिकाल अथवा उत्तर मध्यकाल संवत् १७०० से १९०० वि० तक।

(४) आधुनिक काल—सम्वत् १६०० विक्रमी से अबतक।

इसी आधुनिक काल में ही हमारा गद्यकाल भी समाविष्ट है।

वीरगाथा काल---यह काल युद्ध के वातावरण से परिपूर्ण था। समाज का जीवन ही युद्धमय हो रहा था। तब कवि-हृदय उस दिशा में क्यों न जाता ? उसने भी वीर रस-पूर्ण कविताएँ कीं और अपने-अपने आश्रदाताओं के हृदय में वीर-रस का संचार किया। कवियों ने उनके पराक्रम-पूर्ण चरित्र का वर्णन किया। यही परम्परा उस समय रासो कहलायी। पृथ्वीराजरासो, खुमान रासो, वीसलदेव रासो आदि रचनाएँ इसी परम्परा का अनुगमन करती हैं। इस काल की कविता का मुख्य विषय शौर्य एवं शृंगार था। इस प्रकार इस युग की निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं—

(१) आश्रयदाताओं की अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा।

(२) उनके युद्धों का सुन्दर एवं चित्रमय वर्णन।

(३) वीर रस का वर्णन, तथा उसके साथ-साथ शृंगार का भी समुचित वर्णन-क्योंकि कुछ राजा युद्ध से विश्राम लेकर शृङ्गार की ओर आकृष्ट होने लगे थे।

(४) कल्पना की प्रधानता।

(५) कवित्व पूर्ण वर्णन—इसके लिए कहीं २ पर ऐतिहासिक तथ्यों तक को कवित्व के आवरण से आच्छन्न कर देना।

भक्तिकाल—दीर्घकालीन युद्धों के उपरान्त देश में मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हो गया। इधर हमारे देशीय राजाओं की शक्ति भी क्षीण हो गई। इस प्रकार असहाय प्रजा को आश्रय देने वाला, उसका संरक्षण करने वाला कोई न रहा। अतएव उसकी कारुणिक पुकार दयामय भगवान की शरण में जाने लगी। वह भगवान की भक्ति मे लग गई। एक कारण और भी था। वज्रयानी सिद्ध, कापालिक, नाथ-पंथी जोगी तथा ऐसे ही अनेक सम्प्रदाय जनता की धार्मिक भावना को कुचलने लगे थे, वे उसको आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के

सच्चे मार्ग की ओर तो ले नहीं गये अपितु, कर्मक्षेत्र से ही विरत करने में लग गए। इससे उसकी निराशा और भी अधिक बढ़ गयी। इसी निराशा ने हमारे भक्ति-साहित्य को जन्म दिया। हमारी सन्तवाणी इसकी परिचायक है।

यह भक्ति-काल भी दो भिन्न २ शाखाओं में विभक्त हो गया:—

१—निर्गुण शाखा। २—सगुण शाखा।

निर्गुण-शाखा के प्रधान कवि हमारे सन्त कवि थे। उन्होंने अपनी पूत वाणी से निराश जनता का सम्यक पथ-प्रदर्शन किया। हिंदुओं की मूर्ति-पूजा और मुसलमानों की एकेश्वरवादिता परस्पर, वैमनस्य का कारण बन रही थी। हमारे सन्त कवियों ने इस विद्वेष को मिटाने के लिए यथा-शक्ति प्रयत्न किया। कबीर, दादू, रैदास, मलूकदास आदि ऐसे ही सन्त कवि थे। उनकी कविता उपदेशात्मक है। उनकी भाषा सरल-सुबोध और आडम्बरहीन है। उपदेश की दृष्टि से वह पूर्ण-रूपेण सफल सिद्ध हुई है, उन्होंने मूर्ति-पूजा तथा समाज में प्रचलित अन्य कुप्रथाओं को भी दूर करने के लिये सफल प्रयास किया। इस प्रकार वे हमारे सच्चे सुधारक थे। वे हमारी आंतरिक वृत्तियों के सुधारक थे।

उसी समय कुछ सूफी फकीरों ने कल्पित और ऐतिहासिक कहानियों में लौकिक प्रेम के आवरण में पारलौकिक ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया। उनका यह वर्णन रहस्यवाद से परिपूर्ण है। इन मुसलमान कवियों ने अधिकतर हिंदू गाथाओं का ही आश्रय लिया। उनकी भाषा अधिक अंशों में अवधी है। उन्होंने दोहा-चौपाइयों में अपने काव्य की रचना की। कुतुवन, मन्झन, जायसी आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

हमारे संत कवियों के निर्गुणोपदेश से जनता भटकने से तो बच गयी, किंतु उसका पर्याप्त पथ-प्रदर्शन न हो सका। वह निराकार के निविड़ तम में इतस्ततः भटकती ही रही। इसी समय कुछ महात्माओं ने भगवान के लोकरंजनकारी रूप की कल्पना करके भटकती हुई उस जनता को साकार उपासना का उपदेश दिया। इससे उसे पर्याप्त

सान्त्वना मिली। सर्व-प्रथम रामानुजाचार्य इस क्षेत्र में आगे बढ़े, तदुपरान्त उनके अन्य शिष्य तथा दूसरे साधु कवि-गण भी इसी मार्ग पर चल पड़े। सूरदास ने भगवान का मनमोहक बालरूप दिखला कर उदास जनता के उद्विग्न मन को शाँति प्रदान की। सूर की सरसता से उन्हें पर्याप्त सांत्वना मिली। उनके हृदय में नवीन आशा का संचार हुआ, और वे सच्चे हृदय से भगवान की भक्ति में लग गये। सूरदास, नन्ददास कृष्णदास, परमानन्द, मीराबाई आदि ने कृष्ण-भक्ति का वर्णन किया। उन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया। तथा राममार्गी भक्त कवियों ने अवधी को। उन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्रजी के लोकरंजनकारी रूप का वर्णन करके मानवजीवन की प्रायः सभी परिस्थितियों का विशद वर्णन किया। गोस्वामी तुलसीदास ने राम के इसी रूप की चरम अभिव्यक्ति की।

रीतिकाल—भगवान की भक्ति के प्रवाह में कुछ शृङ्गार की भी सरसता आने लगी। हमारे राजा-महाराजा भी शृंगार एवं भोगविलासों में लिप्त रहने लगे। कृष्ण-काव्य के रचयिताओं में यह शृंङ्गारी भावना चरम-सीमा पर पहुँच गयी। कृष्ण और राधा के रूप-प्रेम वर्णन में अश्लीलता भी आने लगी। कवि-गण तो केवल नख-शिख का वर्णन और नायिकाओं के हाव-भाव के वर्णन में सब कुछ समझने लगे। एक बात और भी है। भगवान की भक्ति में निमग्न कवि-गण काव्य के नियमादि की तनिक भी चिन्ता नहीं करते थे, इसी से काव्य का रूप भी कुछ-कुछ विकृत होने लगा था। इसी से कुछ विद्वानों ने उसे विच्छृङ्खलता से बचाने के लिए तत्सम्बधी नियमों का विधान किया। अल्पकाल ही में सभी कविगण अपने आपको नियामक बनाने का प्रयत्न करने लगे और लक्षण-ग्रन्थ लिखकर आचार्यत्व की पदवी प्राप्त करना उनका प्रधान लक्ष्य हो गया। इस प्रकार यह युग इसी रीति से सम्पन्न हुआ। इसी से इसे रीतिकाल कहते हैं। इस युग के कवियों में केशव, भूषण, बिहारी, देव, मतिराम अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने रस, अलङ्कार आदि काव्याङ्गों की स्पष्ट व्याख्या करके छन्द, कवित्त, सवैयों में उनका समु-

चित प्रयोग भी किया है। इस युग में भूषण, लाल, आदि दो-एक वीर-रस के भी कवि हुए, किंतु प्रधानता शृंङ्गार रस की ही रही। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रीति-काल कविता तथा उसकी भाषा-शैली के सुधार का युग था। इस युग में उसका पर्याप्त सुधार हुआ भी। इतना अवश्य है कि इस सुधारवादी आन्दोलन में कलापक्ष ही प्रधान रहा।

आधुनिककाल—यह युग भारतेन्दु के आविर्भाव से प्रारम्भ होता है। सम्वत् १८०० विक्रमी के उपरान्त यूरोप की कई जातियां व्यापार आदि के लिए यहाँ आईं। उन्होंने यहाँ हमसे सम्पर्क स्थापित करके व्यापार आदि के बढ़ाने का प्रयत्न किया। उस समय हमारे राजाओं में फूट फैली हुई थी। इससे उन्होंने लाभ उठाया। शनैः शनैः वे अपने पैर जमाने लगे। हम देखते हैं कि भारत में ब्रिटिश-साम्राज्य की स्थापना का भी मूल कारण यही फूट है। उन्होंने हमसे मिलकर हमी पर शासन किया। शासन के सम्यक् संचालन के लिए बोल-चाल की भाषा की भी अधिक आवश्यकता प्रतीत हुई। इस कार्य के लिए गद्य अधिक उपयुक्त होती है। अतएव हमारी गद्य परंपरा इसी युग से चली। इसी युग में मुद्रण-कला का भी आविष्कार हुआ। इसने भाषा के विकास में पर्याप्त योग दिया। इसी युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी हिंदी को ही राष्ट्र-भाषा मानकर उसी में अपने धार्मिक ग्रन्थों की रचना की। इधर अङ्गरेज मिशनरियों ने भी अपनी प्रचार पुस्तकें हिंदी गद्य में ही छपवाईं। इस प्रकार विभिन्न मतों के प्रचारकों ने भाषा का समुचित विकास किया।

विदेशियों के आने से उनकी राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था से भी हमारा सम्पर्क हुआ। इधर राष्ट्रीयता का भी विकास हुआ। इस राष्ट्रीय-भावना के चरमोत्कर्ष के लिए शृङ्गारी ब्रजभाषा सर्वथा अनुप-युक्त समझी गयी। अतएव आवश्यकतानुसार खड़ी बोली का जन्म हुआ और समय की प्रगति के साथ उसके गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों

ही रूपों में पर्याप्त विकास हुआ। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र नें इसके दोनों ही रूपों को सुधारने एवं उसे सम्पन्न बनाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया।

समय की प्रगति एवं आवश्यकता के अनुसार हमारा आधुनिक युग भी विभिन्न धाराओं में विभक्त होगया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी चतुर्मुखी शैली द्वारा साहित्य की सम्यक सम्वर्धना की। इस युग के प्रारम्भ में ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना हुई, किन्तु जब उससे आवश्यकता की पूर्ति न हुई तो भाषा के क्षेत्र में खड़ी बोली का विकास किया गया। राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दुबाबू हरिश्चन्द्र, जगन्नाथ दास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, रामचन्द्र शुक्ल, ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने गद्य का समुचित विकास किया। महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने इसी गद्य को प्रांजल रूप दिया। इस क्षेत्र में उनके सभी प्रयास पूर्णरूपेण सराहनीय हैं। उनके युग में अन्य कवियों ने भी अपनी सुललित लेखनी से अनेक प्रकार के काव्यों की रचना की। इन कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम-शर्मा शंकर, लाला भगवानदीन, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, गोपालशरणसिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, अनूप शर्मा, रामकुमार वर्मा, श्यामनारायण पाण्डेय, रामधारीसिंह दिनकर, सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा आदि कवि विशेष प्रसिद्ध हैं। इसी युग में छन्द पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। नए-नए छन्दों का आविर्भाव हुआ, जिनसे कविता का रूप और भी अधिक समलंकृत हो गया।

इस युग में गद्य-निबन्ध, नाटक, उपन्यास, कहानी का भी पर्याप्त विकास हुआ है। इसी युग में समालोचनाएँ भी लिखी गईं, रामकुमार वर्मा, रामचन्द्र शुक्ल आदि ने आधारभूत तुलनात्मक समालोचनाओं की नींव डाली। उनकी समालोचनाएँ विश्वसाहित्य में भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इस युग के प्रसिद्ध साहित्यकार निम्न-लिखित हैं—

कहानी लेखक—प्रेमचन्द, विनोदशंकर व्यास, प्रसाद, पन्त, निराला, कौशिक, सुदर्शन, जी० पी० श्रीवास्तव, जैनेन्द्र, हृदयेश, सुदर्शन आदि ।

उपन्यास लेखक—प्रेमचन्द, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, प्रसाद, उग्र, हृदयेश, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, गुरुदत्त आदि ।

नाटक लेखक—प्रसाद, सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशङ्कर भट्ट, रामकुमार वर्मा आदि ।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि आधुनिक युग में हिन्दी के सभी अङ्गों का समुचित विकास हो रहा है। हमारे कुशल कर्णधार उसके सर्वाङ्गीण विकास में लगे हुए हैं। आशा है कि हमारा हिन्दी साहित्य शीघ्र ही सर्वगुण सम्पन्न हो जायेगा।

वीरगाथा-काल

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल सं० १०५० विक्रमी सम्वत् से १३७५ विक्रमी तक माना जाता है। यह एक प्रकार से संक्रान्ति युग था। सर्वत्र ही रणचण्डी की प्रखर लपटों से हाहाकार मचा हुआ था। भारतीयों नरेशों में आपस में भी फूट पड़ गयी थी, यह देखकर मुसलमानों ने भी आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे। इस प्रकार उस समय भारत की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। वे सर्वत्र लूट-मार करने एवं नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे थे। हमारे वीर, सच्चे देश-भक्त एवं वीर राजपूत उनसे डटकर लोहा ले रहे थे। इस प्रकार वह समय वीरता और गौरव का था। भारत में एक ओर तो पारस्परिक कलह थी। दूसरी और गजनी और गौरी के सतत आक्रमण हो रहे थे। इससे भारतीय राजपूतों की शक्ति क्षीण होने लगी। और मुसलमानों के पैर जमने लगे।

इस प्रकार हिन्दी का प्रारम्भिक युग युद्ध का युग था। उससे हमारा साहित्य पूर्ण-रूपेण प्रभावित हुआ। हमारे कवियों की लेखनी भी अपने अपने आश्रयदाताओं के वीर-रसोत्कर्ष में अधिक सहायक हुई। उन्होंने अपने आश्रदाताओं के कार्यों का वड़ा ही सुन्दर एवं वीरता-पूर्ण वर्णन किया। उनकी ये वीरगाथाएं दो भिन्न रूपों में हमारे सामने आयीं। एक प्रबन्ध काव्य के साहित्य रूप में और दूसरी मुक्तक गीतों के रूप में। खुमान रासो, वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, आल्हखण्ड आदि प्रसिद्ध खण्ड काव्य तत्कालीन परिस्थिति के परिचायक हैं। उनमें युद्धों का अतिरंजित वर्णन हैं।

इस प्रकार वीरगाथा काल की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

१—आश्रयदाताओं की प्रशंसा।

२—वीर रस के साथ शृंगाररस का भी अतिरंजित वर्णन।

३—वीर रस में वीरता की सच्ची भावना के वर्णन की अपेक्षा युद्ध का ही विशद वर्णन।

४—काव्य में क़ल्पना की प्रधानता।

५—ऐतिहासिक सामग्री होते हुए भी उसमें ऐतिहासिक तत्व की अपेक्षा काव्य की अधिक मात्रा।

६—छन्दों में दूहा, तोमर, त्रोटक, गाथा, आदि और कवित्त तथा छप्पय का अधिक प्रयोग।

महाकवि चंदवरदाई

सामान्य परिचय—महाकवि चन्दवरदाई हमारे प्रथम महाकवि माने जाते हैं। उनका पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। यह भाट जाति के थे। बेण उनके पिता थे तथा गुरुप्रसाद गुरु थे—अजमेर के चौहान उनके पूर्वजों के यजमान थे। चन्द का जन्म लाहौर नगर में हुआ था। उन्होंने अपने जन्म के विषय में अपने ग्रन्थ में कहीं पर भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। इसी से उनके जन्म से संबंध रखने वाली अनेक किम्वदन्तियाँ चलने लगीं हैं। कहा यह जाता है कि चंद और उनके आश्रयदाता महाराज पृथ्वीराज दोनों एक ही दिन इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर महाराज पृथ्वीराज का जन्म संवत् १२०५ विक्रमी माना जाता है। अतएव यही संवत् हम चंद के जन्म का भी मानते हैं।

महाकवि चंद महाराज पृथ्वीराज के राजकवि थे। वह एक कुशल सेनानायक तथा सफल मंत्री भी थे। वह स्वयं भी अनेक युद्धों में पृथ्वीराज के साथ गये और अपने अपूर्व कौशल से सभी सेनानायकों को चमत्कृत किया। अपने इस पराक्रम प्रदर्शन के साथ-साथ उन्होंने अपनी ओजस्विनी वाणी से अपने आश्रयदाता के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वीररस का संचार किया। इस प्रकार वह हमारे आदर्श कवि और योद्धा भी थे। वह षड्भाषा व्याकरण, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक,सङ्गीत आदि कई विद्याओं में पूर्ण पारंगत थे।

महाकवि चंद की मृत्यु तिथि भी अनिश्चित सी है। रासो के अनुसार उनका देहावसान संवत् १२४६ विक्रमी में पृथ्वीराज के साथ-साथ गजनी में हुआ था।

"इक्क दीह उपन्न इक्क दीहै समाय क्रम्म ।।"

के अनुसार भी पृथ्वीराज और चंद की जन्म-मृत्यु की एक ही तिथि है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पृथ्वीराज की मृत्यु-संवत् १२४६ विक्रमी में मानी जाती है। अतएव महाकवि की भी मृत्यु तिथि यही मानी जाती है।

रचनाएँ—महाकवि चंद ने पृथ्वीराज रासो नाम का एक अति विशाल ग्रन्थ बनाया। इसमें महाराज पृथ्वीराज के जीवन-चरित्र का वर्णन किया गया है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि इसमें एक लाख से भी अधिक छंद हैं, किंतु अधिक खोज करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया है कि उसमें आधे से भी अधिक प्रक्षिप्तांश हैं। यह ग्रन्थ ढाई हजार पृष्ठों का है। इसमें ६६ समय (सर्ग) हैं। इसका पूर्वार्द्ध चंद ने स्वयं लिखा तथा उत्तरार्द्ध उसके पुत्र जल्हण ने पूरा किया।

आदि अंत लगि वृत्ति मन, ब्रन्नि गुनी गुनराज।
पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चले गज्जन नृप काज ।।

भाषा –चंद की भाषा अधिकांश डिंगल है। उसमें संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं का सुन्दर मिश्रण है। उसमें स्थान-स्थान पर अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द भी अधिक रूप में देखने को मिलते हैं। कहीं-कहीं तो उसमें अत्यन्त प्राचीन रूप दिखलाई पड़ता है तो कहीं-कहीं पर आधुनिक रूप भी दिखलाई पड़ता है जो उसको प्राचीन सिद्ध करने में बाधक हो जाता है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने तो उसे डिंगल न मानकर पिंगल ही माना है। रासो की भाषाओं के सम्बन्ध में महाकवि चंद ने स्वयं कहा है—

"उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं।
षड्भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया ।।"

भिखारीदास ने षड्भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है।

ब्रज मागधी मिले अमर नाग यमन बखानि।

सहज पारसी हूँ मिले षट् बिधि करत बखानि ।।

इस प्रकार रासोकार ने छः भाषाओं का प्रयोग किया है। भाषा के क्रमिक विकास की दृष्टि से इसके तीन स्तर किये जा सकते हैं। प्रथम भाषा का प्राचीन रूप जिसमें अपभ्रंश और प्राकृत की छाया अपेक्षाकृत अधिक है।

नमः संभववाय सरब्वाय नमो रुद्द्यामं वरद्द्य सायं ॥

इसप्रकार की भाषा में संस्कृत शब्द प्राकृत और अपभ्रंश रूप में हैं। द्रुग्ग, अभग्ग, सायद्र, आदि ऐसे ही शब्द हैं।

भाषा का दूसरा रूप मध्यकालीन विशेषताओं से युक्त है। इसमें शब्द योजना भी मधुर है।

"मनहु कला ससभाँन कला सोलह सो वन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय ॥"

भाषा का तीसरा रूप आधुनिकता से युक्त है—

"एक पहुर में साँवत प्यारे, लोक हजार पाँच तहँगारे।
............बारे लोक हजार अठारा,
सखियन संग खेलत फिरत महलनि बाज निवास ॥"

भाषा के इन विविध रूपों के साथ ही उसमें उर्दू, फारसी, तुर्की, आदि शब्दों की भी बहुलता है।

'हसम हयग्गय देस अति।............
कहियत मालनि मिहरवान..........

रासो वीर रस प्रधान है, साथ ही उसमें शृंगार आदि अन्य रसों का भी बड़ा ही सुन्दर परिपाक हुआ है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महाकवि चन्द हिन्दी के आदिकाल के उच्चकोटि के कवि थे। उन्होंने अपनी सुललित लेखनी से रासो का निर्माण करके एक विशेष महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी से उनका नाम हिन्दी साहित्य में अमर रहेगा।

महाकवि विद्यापति

जीवन परिचय—प्राचीन कवियों की भाँति महाकवि विद्यापति ने भी अपने विषयों में कुछ भी संकेत नहीं दिया है। इसी से उनके जन्म मृत्यु का समय भी विवाद की एक समस्या बन रहा है। अतएव इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। कुछ प्रमाणों के आधार पर उनका जन्म २३२ लक्ष्मणाब्द माना जाता है लक्ष्मणाब्द और ईसवी सन् में १११० वर्ष का अन्तर है। कुछ अन्य पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि मैथिल कोकिल श्री विद्यापति का आविर्भाव संवत् १४१७ विक्रमी के लगभग दरभंगा के उत्तर में स्थित कमतौल के पास विसपी नामक ग्राम में हुआ था। विद्यापति के पिता का नाम गणपति ठाकुर था। यह राजा गणेश्वर के राजमंत्री थे। वह अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने 'गंगा भक्ति तरंगिणी' की रचना की जिससे तत्कालीन सभी विद्वन्मण्डली उनकी ओर आकृष्ट हो गयी। महाकवि विद्यापति भी उन्हीं के समान प्रखर बुद्धि वाले थे। वह राजा शिवसिंह के राजकवि थे। राजा ने उन्हें विसपी गाँव उपहार में भेट किया था। उन्होंने भी अपने आश्रयदाता तथा उनकी रानी लक्ष्मी देवी के सम्बन्ध में असाधारण पदों की रचना करके उन्हें पूर्णतया मुग्ध कर लिया था। इसी से वह उनकी कृपा के पात्र हो गये थे। उन्होंने उन्हीं की संरक्षता में रहकर अपनी असाधारण उत्कृष्ट पदावली की सृष्टि की। उनकी यह रचना हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है।

महाकवि विद्यापति के जन्म समय के समान ही उनकी मृत्यु संवत भी विवादास्पद है। जनश्रुति के आधार पर विद्यापति राजा शिवसिंह से २ वर्ष बड़े थे और उनके राज्याभिषेक के समय वह ५० वर्ष के थे। अतएब उस समय विद्यापति ५२ वर्ष के होंगे। शिवसिंह की मृत्यु के ३२ वर्ष उपरान्त उन्होंने स्वप्न में शिवसिंह को गौर वर्ण में देखा—

"सपन देखल हम सिवसिंघ भूप।
बतिस बरस पर सामर रूप॥

बहुत देखल गुरुजन प्राचीन।
अब भेलहु हम आयु बिहीन॥"

यह स्वप्न रात्रि के अन्तिम प्रहर में देखा था, जो १५ दिन के भीतर फलित होना चाहिए। इसके अनुसार लक्ष्मणाब्द ३२६ के आठ महीनों में उनका देहावसान हुआ होगा। इस विषय में इतना और सुना जाता है।

"कातिक धवल त्रयोदशि जानि।
विद्यापतिक आयु अवसान।"

इसी के अनुसार कार्तिक शुक्ल १३ को विद्यापति की जयन्ती मनाई जाती है।

एक किम्वदन्ती और है। अपनी मृत्युवेला सन्निकट जानकर विद्यापति अपने सम्बन्धियों से विदा होकर गंगा तट की ओर चल दिये किन्तु मार्ग में ही सन्ध्या हो गई और वह वहीं पर ठहर गये और कहने लगे कि जब मैं वृद्ध होते हुए भी इतनी दूर तक आ गया हूँ तो क्या गंगा जी मुझ से भेंटने के लिए थोड़ी भी दूर नहीं आवेंगी। कहा यह जाता है कि गंगाजी अपनी धारा छोड़कर वहाँ आ गयीं और आज भी उसी तिरछे रूप में बहा रही हैं।

रचनाएँ—महाकवि विद्यापति ने संस्कृत, अपभ्रंश तथा मैथिली में अपनी सरस रचनायें की हैं।

शैव सर्वस्व सार, शैव सर्वस्व सार प्रमाण, भूत पुराण संग्रह, भूपरिक्रमा, पुरुषसमीक्षा, लिखनावली, गंगा वाक्यावली, विभाग सार, गया पत्तनक, वर्णकृत्य, दुर्गाभक्ति तरंगिणी आदि संस्कृत ग्रन्थ हैं। उन्होंने कीर्तिलता और कीर्तिपताका अवहट्ट में तथा पदावली मैथिली में लिखी।

काव्य साधना—महाकवि विद्यापति शौर्य-युग में अवतीर्ण हुए थे, किन्तु अपने आश्रयदाता की तत्कालीन विचारधारा से भिन्न शृंगारी होने के कारण विद्यापति भी शृंगारी कवि बन गये। उनकी कविता में

अपूर्व सरसता, माधुर्य एवं पाण्डित्य है। उनकी जैसी सरसता साहित्य के अन्य कवियों में नहीं मिलती है। अपनी इसी सरसता एवं माधुर्य के कारण वह मैथिल-कोकिल कहलाये। राधाकृष्ण के माधुर्य-भाव निरूपण में संस्कृत में जयदेव अप्रतिम है। हिन्दी में भी राधाकृष्ण के आमोद-प्रमोद तथा संयोग-वियोग का निरूपण विद्यापति से पूर्व किसी भी कवि ने नहीं किया। उनके उपरान्त कुछ कवियों ने इस ओर प्रयास भी किया, किन्तु उन्हें विद्यापति के समान सफलता नहीं मिली। कहा तो यहाँ तक जाता है कि श्री चैतन्य महाप्रभु उनके पदों की मादकता से अभिभूत होकर इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें अपने शरीर की भी सुध-बुध नहीं रहती थी। श्री चैतन्य महाप्रभु का सुयोग पाकर उनकी पदावली से जनपद गूँज उठा था। उनकी सरस पदावली सर्वत्र ही मादकता से रस का संचार करने लगी थी। बंगदेश ने उनको सबसे अधिक अपनाया भी और कुछ समय पश्चात् वह उन्हें अपना बनाने भी लगे। महाकवि विद्यापति बंगदेशीय कवि कहे जाने लगे। अतएव "विद्यापति किस भाषा के हैं ?" समस्या बहुत ही अधिक विवादास्पद हो गई। किन्तु अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया है कि महाकवि विद्यापति मिथिला निवासी थे और हिन्दी तथा मैथिली में उन्होंने अपनी पदावली की रचना की थी।

महाकवि विद्यापति भारतीय संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित हुए थे। उन्होंने सरल, सरस और स्पष्ट पदावली में आपने भावों की अभिव्यक्ति की। उसमें राधा कृष्ण के प्रेम का सन्निवेश होने के कारण 'विद्यापति रहस्यवादी कवि थे' विवाद को कुछ आधार मिल जाता है। डाक्टर ग्रियर्सन विद्यापति को राधाकृष्ण सम्बन्धी पवित्र प्रेम का उपासक बतलाते हैं। डाक्टर नगेन्द्रनाथ गुप्ता भी उन्ही पद-चिह्नों का अनुसरण करके विद्यापति के पदों में आध्यात्मिक भावना को दिखलाने का प्रयत्न करते हैं और उन्हें रहस्यवादी कवि मानने लगते हैं। कुमारस्वामी, जनार्दन राय मिश्र आदि विद्वान् भी उनकी कविता को ईश्वरोन्मुख प्रेम से युक्त बतलाते हैं। किंतु डा० रामकुमार वर्मा,

विनयकुमार सरकार, बाबूराम सक्सेना, बाबू शिवनन्दन ठाकुर आदि विद्वानों ने उन्हें ठेठ शृंगारी कवि माना है और उनकी कविता में लौकिक प्रवृत्ति का संकेत किया है। उसमें दार्शनिक गूढ़ रहस्य नहीं है।

"कि आरे नव जौवन अभिरामा।
जत देखत तत कहए न पारिअ, छओ अनुपम इक ठामा॥"

विद्यापति ने राधा-कृष्ण के प्रेम का जो चित्र खींचा है उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। उसमें आराध्यदेव के प्रति भक्त की सी पवित्र भावना नहीं हैं। उसमें सख्य भाव की उपासना अवश्य प्रदर्शित की गई है किन्तु उसमें कृष्ण उन्मत्त नायक और राधा यौवन-मदिरा में मतवाली मुग्धा नायिका की भाँति दिखलाई पड़ती है। उसमें राधा के प्रेम का भौतिक एवं वासनामय रूप है। अङ्गरेजी के कवि बाइरन के समान विद्यापति का भी यही सिद्धान्त है—

"यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।"

विद्यापति ने शृंगारिक कविताओं के अतिरिक्त भक्ति सम्बन्धी कुछ पदों की भी रचना की है। ये पद शिव, दुर्गा, गंगा की भक्ति से सम्बन्धित हैं।

भाषा और शैली-—महाकवि विद्यापति संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत पर उनका पूर्ण अधिकार था। हिन्दी साहित्य का आदिकाल अपभ्रंश-काल था। विद्यापति के समय तक अपभ्रंश का थोड़ा बहुत स्थान रहा ही था। उस समय देशी भाषाएँ सिंहासनारूढ़ होने लगी थीं। इस प्रकार वह हमारे सन्धिकाल के कवि थे। उनकी भाषा भी तत्कालीन भाषाओं से प्रभावित है। उन्होंने स्वयं कहा है—

"देसिअ बअना सब जन मिट्ठा।
तें तैसन जंपओ अवहट्ठा॥"

अर्थात् देशी भाषा सबको मीठी लगती है इसीसे मैं भी देशी भाषा से मिली हुई अपभ्रंश में रचना कर रहा हूँ। उन्होंने दोहा चौपाई,

छंद, छप्पय इत्यादि छंदों का प्रयोग किया है। उनकी अपभ्रंश में कहीं कहीं पर पूरवी का भी प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उसमें संकृत तत्सम पदावली की तो बहुलता है ही।

पुरिसत्तेंण पुरिसउ नहिं पुरिसउ जन्म मत्तेन।
जलदान मेहु जलश्रो न हु जलश्रो पुंजिश्रो धूमो॥

उनकी मैथिली तो अत्यन्त ही सरस और परिष्कृत है।

"एकहि नगर वस माधव रे, जनि करवट मारि।
छाड़ कन्हैया मोर आँचर रे, फाटत नव सारि॥
हरि के संग किछु डर नहिं रे तोह परम गँवारि॥"

उनकी पदावली में राधा कृष्ण के उत्कृष्ट प्रेम का वर्णन किया गया है। उसमें शृंगार रस प्रधान है। कहीं कहीं पर तो उसमें अश्लीलता की भी पराकाष्ठा हो गई है। उनके इस ग्रन्थ की भाषा मैथिली है। उसमें बनावल, पाइल, कहिल, जानल आदि पूर्वी;हिन्दी की क्रियाओं का भी समावेश हुआ है।

कमल मिलल दल मधुप चलल धर बिहग गहल निज ठाये।
अरे रे पथिक जन थिर रे करिअ मन बड़ पाँतर दुर गाये॥

विद्यापति की अलंकार योजना भी अत्यन्त सुन्दर है। उसमें विविध अलकारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है।

चिकुर निकर तम-सम पुनु आनन पुनिम ससी।
नयन पंकज के पतिश्रा आते एक ठाम रहु बसी॥

उन्होंने संयोग और वियोग का भी अति सुन्दर चित्रण किया है उनमें हृदय को स्पंदित करने की अपूर्व शक्ति है। दो पंक्तियाँ देख लीजिए—

"के पतिया लए जायतरे मोरा पिय पास।
हिय नहिं सहै असह दुख रे भलसा ओन मास॥"

उनकी इस प्रकार की उक्तियाँ पाठकों के हृदय को सहसा ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। उनकी भाव-माधुरी पाठकों को एक अ

आनन्द से विभोर कर देती है । वास्तव में कवि की यही सफलता है और इसीसे वह महाकवि कहे जाते हैं।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि महाकवि विद्यापति ने साहित्य की सम्बर्द्धना में अपना तनमन लगा दिया था । उन्होंने भाषा में सजीवता लाने के लिए सभी प्रकार की प्रणालियों को अपनाया। इसीसे उनकी पदावली में अनुपम पदलालित्य है, यही नहीं, वह सरसता, मधुरता एव भाव-गांभीर्य से सर्वथा परिपूर्ण है। इसीसे साधारण पाठकों का मन-मयूर भी आनन्दघन की छटा देखकर सहसा ही मस्त होकर झूमने लगता है।

भक्तिकाल

(१३७५-१७०० वि०)

सामान्य परिचय और विशेषतायें—हिन्दी का आदिकाल एक प्रकार से लड़ाई-झगड़े, पारस्परिक द्वेष, वैमनस्य का युग रहा था। उस समय सर्वत्र ही अशान्ति की भयानक घटायें छाई हुई थीं। सर्वत्र ही हाहाकार मचा हुआ था, किन्तु कालान्तर में जब उन समरप्रिय वीरों की शक्ति का ह्रास हुआ और वे पारस्परिक फूट से और भी अधिक जर्जर हो गये, तब शान्ति के कुछ लक्षण दिखाई दिए। विदेशियों के आक्रमण तो हो ही रहे थे, वे सारे जनपद को पददलित कर देना चाहते थे। पारस्परिक कलह के कारण देशी राजा जर्जर हो ही रहे थे, उनमें पारस्परिक फूट का बीज भी अँकुरित हो चुका था। ऐसी भयंकर परिस्थिति में निराश हिन्दू जनता को आश्रय देने वाला कोई भी सबल नरेश नहीं था, जो उसके धर्म की रक्षा करता, विदेशियों से उसको बचाता। संकटकाल में ही भगवान याद आते हैं। वह दीनता पूर्वक अपनी रक्षा के लिए, अपने धर्म को सुरक्षित बनाये रखने के लिए करुणामय भगवान् से प्रार्थना करने लगी। उसका यह करुण चीत्कार महात्माओं की पूतवाणी के रूप में हमारे सामने आता है। परमदयालु परमेश्वर के यहाँ उसकी उस प्रार्थना की सुनवाई हुई। उसी के फलस्वरूप अनेक भक्तकवि इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए। उन्होंने अपनी वाणी के सदुपदेशों द्वारा उस आश्रयहीन जनता को सान्त्वना दी और विश्वास दिलाया कि परम दयामय भगवान् उस पर अवश्य ही दया

करेंगे, उसके धर्म की अवश्य ही रक्षा करेंगे। हमारे सन्त-कवियों की पूत वाणी इन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत है।

कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसे समय की गति से मिलकर चलना पड़ता है। हम देखते हैं कि तत्कालीन सभी भक्तकवियों की कविता में इन्हीं भावनाओं का सन्निवेश है। इन सन्त कवियों ने जनता को शान्तिप्रिय उपदेश दिया। वस्तुतः वह ऐसा ही समय था। उस समय अधिक विरोध करना भी अच्छा नहीं था। इसी से उन्होंने लोगों को शान्ति और भक्ति का पाठ पढ़ाया। इसका मुसलमानों पर भी प्रभाव पड़ा। वे हमारे सन्निकट आने लगे। 'सिया राम मय सब जग जानी' का सिद्धान्त सर्वत्र मान्य होने लगा। सन्त कवियों ने राम रहीम को एक बतलाकर दोनों को ही एकता के सूत्र में संगठित करने का प्रयत्न किया। इस कार्य में उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। संत कवियों ने बाह्याडम्बरों एवं मूर्ति-पूजा का खण्डन करके केवल एक ही ईश्वर की उपासना करने का सदुपदेश दिया। उन्होंने बतलाया कि वह सभी जड़ चेतन में विद्यमान है। उनके इस उपदेश का दोनों ही पक्षों पर काफी प्रभाव पड़ा। दोनों ही एक दूसरे के सन्निकट आने लगे। इसी समय दक्षिण में श्री रामानुजाचार्य और गुजरात में स्वामी माधवाचार्य ने सगुण भक्ति और द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय का बीजारोपण किया जो शीघ्र ही अंकुरित होकर उस उर्वर भूमि में विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में फैलने लगा। पन्द्रहवीं शती में रामानन्दजी ने रामोपासना का प्रचार किया और वल्लभाचार्य ने कृष्णोपासना का। इस प्रकार सगुण भक्ति के दो भिन्न रूप हो गये।

भगवान की इस सगुण भक्ति का मूर्तिपूजा-विरोधी मुसलमानों पर उस समय विशेष प्रभाव न पड़ा। इधर सन्त कवि हिन्दू मुसलमानों में एकता स्थापित करना ही चाहते थे। उन्होंने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्गुण-भक्ति का सहारा लिया। भक्त शिरोमणि नामदेव ने इस दिशा में बहुत ही अधिक परिश्रम किया। उसके उपरान्त महात्मा कबीर ने अपने निर्गुण पंथ को चलाया। आगे चलकर उनकी या

निर्गुणोपासना भी दो शाखाओं में विभक्त हो गई। एक शाखा ज्ञान से परिप्लावित हुई और दूसरी प्रेमतत्व से। ज्ञान वादी तो वेदान्त के सिद्धान्तों पर चले और प्रेममार्गी सूफी सन्तों के मार्ग पर चलकर अपने प्रियतम की आराधना करने लगे।

इस प्रकार उस काल में इन तीन धाराओं की त्रिवेणी ने भारत को एक विशेष आनन्दमय शान्ति से संतृप्त किया।

१—निर्गुण पन्थ की ज्ञानाश्रयी शाखा

इसका प्रचलन हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए किया गया था। सन्त कवियों ने पारस्परिक मूर्ति पूजा का खण्डन करके तथा राम-रहीम को एक बतलाकर दोनों ही धर्मावलम्बियों को एक दूसरे के सन्निकट लाने के लिए सफल प्रयास किया। मुसलमान मूर्ति पूजा के मानने वाले तो थे ही नहीं इसीसे हमारे सन्त कवियों ने इस सुन्दर मार्ग को अपनाया। उन्होंने देवी-देवताओं की पूजा की ओर से हिन्दुओं का ध्यान हटा कर मुसलमानों के ध्यान को हिन्दुओं से मिलाने के लिए और भी अधिक आकृष्ट किया। उनका निर्गुणवाद मुसलमानों के खुदावाद से मिलकर चलने लगा और दोनों की विरोध-भावना भी कम होने लगी। महात्मा कबीर इस धारा के प्रवर्तक थे। उन्होंने हिन्दू मुसलमानों की निरर्थक रूढ़ियों का खण्डन करके दोनों ही जातियों में एकता स्थापित करने का सफल प्रयास किया। इसी से दोनों ही धर्मावलम्बी उन्हें अपना मानते हैं।

२—प्रेममार्गी शाखा

सूफी सम्प्रदाय इस शाखा को मानने वाला है। वे सर्वेश्वर को मानने वाले हैं। अर्थात सारा संसार ही ईश्वर है। 'सियाराममय सब जग जानी। करहु प्रनाम जोर जुग पानी॥' इस आप्त वाक्य के आधार पर वे हमारे और भी सन्निकट आ जाते हैं। उन्होंने ईश्वर को अपना प्रेम पात्र माना और इसी आधार पर हिन्दू प्रेम-गाथाओं को लेकर काव्य

रचना की। महाकवि जायसी इस शाखा के कवियों में सर्व-प्रधान हैं।

२—भक्ति-मार्गी शाखा

हमारे सगुण उपासक भक्त-कवि इस शाखा के प्रधान कवि हैं। वे अपने इष्टदेवों की पूजा में मग्न रह कर जनता को भी सगुण उपासना का उपदेश देना अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते थे। उनकी दृष्टि से भगवद्भजन में देश का कल्याण था। वे भगवान् के सच्चे भक्त थे, इसी से वे सांसारिक भोग-विलासों से सर्वथा परे थे। यद्यपि उनमें मुस्लिम विरोधी भावना नहीं थी, किन्तु फिर भी उनसे मिलना उन्हें अभीष्ट न था। भगवान के अनन्य भक्तों को दूसरों से काम ही क्या! यह धारा दो भागों में विभक्त हो गई—कृष्णभक्ति शाखा तथा दूसरी रामभक्ति शाखा। महाकवि सूरदास कृष्णभक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि थे और गोस्वामी तुलसीदास रामभक्ति शाखा के।

इस प्रकार हमारा भक्तिकाल त्रिवेणी के समान तीन विविध धाराओं का संगम है जहाँ पर एक ओर तो वेदान्त के रेतीले पथ पर चलकर ज्ञानवादी आए तो दूसरी ओर से प्रेम का पल्ला पकड़ कर, अपनी आत्मा को परमात्मा का ही एक विशिष्ट अंग मान कर, उसी परब्रह्म को अपनी आत्मा का स्वामी मान कर, उसी के इंगित पर अपने को चलने वाला कहने वाले प्रेममार्गी सूफी कवि आये और तीसरे मार्ग से साकार उपासना करने वाले दो भिन्न मार्गों से आकर मिले। इस प्रकार साहित्य की यह त्रिधारा विश्व की एक त्रिधारा है, जिसमें स्नान करके साँसारिक व्यक्ति का तो कल्याण हो ही जाता है, साँसारिक माया मोह से परे रहने वाले सन्त-महात्माओं को भी एक अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है।

महात्मा कबीर

जीवन परिचय—महात्मा कबीर ज्ञानाश्रयी शाखा के सर्वश्रेष्ठ सन्त कवि थे। वह हमारे साहित्य के ही नहीं विश्व साहित्य के भी उत्कृष्ट रहस्यवादी हैं। प्राचीन कवियों के समान ही महात्मा कबीर का जन्म-समय भी रहस्य से परिपूर्ण है। उनके विषय में निश्चित रूप से अभी तक कुछ भी निर्धारित नहीं किया जा सका है। अतएव उनके संबन्ध में प्रचलित जनश्रुतियों और कबीर-पन्थियों के ग्रन्थों का ही आश्रय लेना पड़ता है। कहा यह जाता है कि महात्मा रामानन्द ने प्रसन्न होकर एक विधवा ब्राह्मणी को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया था। समय पाकर उसके गर्भ से कबीर का जन्म हुआ। किंतु उस ब्राह्मणी ने लज्जावश उस बालक को तीरवर्ती एक सरोवर के किनारे फेंक दिया। किन्तु "जाको राखे साइयां मारि सकै नहीं कोइ॥" प्रातःकाल होते ही एक जुलाहे की उन पर दृष्टि पड़ी। वह बड़ी प्रसन्नता के साथ उस बालक को अपने घर लेगया और पालन पोषण करने लगा। आगे चलकर वही बालक कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके जन्म के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है :—

"चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रबार इक ठाट भये।
जेठ सुदी बरसाइत को, पूरनमासी प्रकट भये॥"

किंतु गणना करने से संवत् १४५५ में जेष्ठ शुक्ल चन्द्रवार को पूर्णिमा नहीं पडती है। कबीर पंथी उनका जन्म संवत् १४५५ विक्रमी अमावस्या तिथि को मानते हैं और अनुराग सागर में भी यही निर्दिष्ट है। और बरसाइत भी अमावस्या को ही होती है! पंचाङ्ग के अनुसार

उसी दिन चन्द्रवार भो पड़ता है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने भी इसी समय को अधिक शुद्ध माना हैं।

डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार कबीर का जन्म मगहर के एक जुलाहा परिवार में हुआ था।

"जाति जुलाहा-नाम कबीरा, वन वन फिरौं उदासी।"

किंतु इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता हैं। हम तो इतना ही कह सकते हैं कि उनका पालन पोषण एक जुलाहे के परिवार में हुआ। 'भक्तिमाल राम रसिकावली' में इनके जन्म के सम्बंध में लिखा है।

रामानंद रहे जग स्वामी। ध्यावत निसिदिन अंतर यामी।
तिनके ढिग विधवा इक नारी। सेवा करै बड़ी श्रमधारी॥
प्रभु इक दिन रह ध्यान लगाई। विधवा तिय तिनके ढिग आई।
प्रभुहिं कियो बंदन बिन दोषा। प्रभु कह पुत्रवती भरि घोषा॥

समय पाकर उसके एक पुत्र हुआ।

सो सुत लै तिय फेंक्यों दूरी। कढ़ी जुलाहिन तहँ इक रूरी॥
सो बालकहिं अनाथ निहारी। गोद राखि निज भवन सिधारी॥
लालन पालन किय बहु भाँती। सेयो सुतहिं नारि दिन राती॥

इस जुलाहिन का नाम नीमा था और उसके पति का नाम नीरू था। किंतु यह कथा असत्य मानी जाती है। "आदि श्री गुरु ग्रंथ साहिब" में कबीर का जन्म मुसलमान के घर माना है। कुछ भी हो, यह तो निश्चित ही है कि उनका पालन पोषण एक जुलाहे के परिवार में हुआ था।

बाल्य काल्य से ही कबीर की प्रवृति धर्म की ओर थी। वह सद्गुरु से दीक्षित होने को लालायित थे। उस समय रामानन्द की प्रशंसा सर्वत्र व्याप्त थी। कबीर भी उनके शिष्य होना चाहते थे, किंतु वैष्णव रामानंद जुलाहे कबीर को अपना शिष्य कैसे बनाते। अंत में निराश होकर कबीर रात्रि में ही गंगा घाट की सीढ़ियों पर जाकर लेट गये, जहाँ पर रामानंद नित्य प्रत्यूष बेला में गंगा स्नानार्थ आया करते थे। रात्रि का

समय तो था ही। रामानंद के पैर की ठोकर कबीर के लगी। इससे कबीर कराह उठे। रामानंद जी ने भी उन्हें पीड़ित देख कर राम २ कहने के लिए कहा। कबीर ने इसी "राम नाम" को गुरु मंत्र मान कर रामानंद को अपना गुरु मान लिया।

कबीर का विवाह एक अत्यन्त रूपवती स्त्री के साथ हुआ था। इस विषय में स्वयं कबीर ने भी कहा है—

नारी तो हम भी करी, जाना नहीं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

इससे एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुई जिनका नाम कमाल और कमाली रक्खा गया।

'बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाँड़िके, घर लै आया माल॥'

कबीर कुछ पढ़े-लिखे तो थे नहीं, हाँ उन्होंने सत्संग अवश्य किया था जिससे उनकी अनुभूति अत्यधिक बढ़ गई थी। इसी के आधार पर उन्होंने लोगों को उपदेश भी दिया।

"मसि कागद छुयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारों जुग का महातम कबिरा मुखहि जनाई बात॥

जन्म-तिथि के ही समान कबीर का अवसान भी कम विवादग्रस्त नहीं है। कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे और वह उनके राज्यारोहण के समय (सन् १४८८-८९ सं० १५४५-४६ विक्रमी) तक अवश्य ही जीवित रहे होंगे। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन तथ्य प्राप्य हैं—

१—सुमंत पंद्रा सो उनहत्तरा हाई।
सतगुरु चले उठ हंसा ज्याई॥

(धर्मदास)

२—पंद्रह सौ उनचास में मगहर कीन्हौं गौन।
अगहन सुदि एकादसी मिले पौन में पौन॥

(भक्तमाल की टीका)

३—संवत पंद्रहसौ पछत्तरा, कियो मगहर को गौन ।
माघ सुदि एकादशी, रल्यौ पौन में पौन ॥
(कबीर जनश्रुति)

जॉन ब्रिग्स के मतानुसार सिकन्दर सम्वत् १५६१ में काशी में आया था। उसी समय कबीर से उसकी भेंट हुई होगी। अनंतदास की 'परचई' के अनुसार कबीर १२० वर्ष तक जीवित रहे। अतएव उनका मृत्यु-समय १५७५ ही माना जा सकता है। इनके सम्बन्ध में किम्वदन्ती है कि उन के शव के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों ही में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। हिन्दू उसे जलाना चाहते थे तो मुसलमान गाढ़ना चाहते थे। उस विवाद के चरम सीमा पर पहुँचते ही उनका शव सुंदर पुष्पों की ढेरी में परिवर्तित हो गया। दोनों ही दलों ने उन पुष्पों को बाँट कर अपने-अपने धर्मानुसार उनकी अंत्येष्टि क्रिया की। इस समय मगहर में एक ही स्थान पर उनकी समाधि और मकबरा बना हुआ है।

रचना—महात्मा कबीर कुछ पढ़े लिखे तो थे ही नहीं। अतएव उनकी लेखनी-प्रसूत कोई भी रचना नहीं है। वह तो समाज को उपदेश दिया करते थे और उनके शिष्य-गण उनकी वाक्यावलि को लेखनी-बद्ध कर लिया करते थे। कालांतर में उनके शिष्यों ने उनकी वाणी का संकलन करके प्रकाशन किया जो बीजक के नाम से प्रसिद्ध हुआ—यह तीन भागों में विभक्त है–साखी, सबद, रमैनी। इनके अतिरिक्त कबीर की वाणी का संकलन अन्य ग्रंथों में मिलता है– विवेकसागर, विचारमाला ज्ञानसागर, ज्ञानस्तोत्र, ज्ञान गुदरी, कबीर की बानी आदि। इस प्रकार के ग्रंथों की संख्या ५७ मानी जाती है जिनमें लगभग १७००० पद्यों का संग्रह है, किंतु वस्तुतः उनकी संख्या कितनी है, नहीं कहा जा सकता है।

सिद्धान्त—महात्मा कबीर हमारे उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि थे। उनकी सम्पूर्ण कविता उपदेशात्मक है। अपने मत की संपुष्टि के लिए उन्होंने धार्मिक सिद्धांतों के साथ साथ लौकिक व्यावहारिक आचार विचारों का भी यथास्थान वर्णन किया है इसी से उनकी उक्तियाँ और

भी अधिक सुंदर और चित्ताकर्षक हो गई हैं। वह स्वतंत्र प्रकृति के तो थे ही, अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने प्रचलित सभी विचार धाराओं का यथावश्यक खण्डन किया है। उन्होंने समाज के अंधविश्वासियों को तो इतनी अधिक खरी-खोटी सुनाई है कि आज तक उतना साहस किसी को भी नहीं हुआ। वह भगवान के भक्त थे, और सच्चे भक्त थे।

"तुम समान दाता नहीं, हम सो नहीं पापी।"
कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेबड़ी, जित खेचै तित जांउ॥"

इस प्रकार महात्मा कबीर अपने आपको भगवान का एक तुच्छ सेवक मान कर चले हैं। उनमें दीनता है और विनय है। वह किसी को भी कष्ट नहीं देना चाहते और यह भी नहीं चाहते कि कोई किसी को कष्ट दे।

आत्मा परमात्मा का ही रूप है अतएव उसे उज्ज्वल रखना जीव का परम कर्तव्य है। कबीर ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। संसार के सभी प्राणियों में एक ही आत्मा रम रही है और वह आत्मा परब्रह्म परमात्मा का अंश है अतएव किसी भी प्राणी से वैर विरोध करना मानव-समाज का—जो अपने को सभ्य कहता है—धर्म नहीं है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने हिन्दू मुसलमान दोनों ही को समझाया कि राम और रहीम एक ही हैं, अतएव आपस में वैर-विरोध करना मानव समाज को कलंकित करना है।

"कह हिंदू मोहि राम पियारा, तुरक कहैं रहमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मुये, मरम न काहू जाना॥"

वह हमारे सच्चे सुधारक थे। उनमें विश्व-बन्धुत्व की भावना सच्चे रूप में विद्यमान थी। बह समाज के वाह्याडम्बरों को भी समूल नष्ट कर देना चाहते थे। हिंदुओं और मुसलमानों के पारस्परिक विरोध पर वह कहते हैं—

"जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाये,
और राह तुम काहे न आये।"

काली और सफेद गायें देखने में तो भिन्न रंग की हैं किन्तु उनका रक्त एक ही रंग का होता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर परमात्मा की सृष्टि के जीवों में कोई भी अन्तर नहीं है—

"एक ही रक्त से सभी बने हैं, को ब्राह्मण को सूद्रा।
"कोई हिंदू कोई तुरक कहावे एक जमीं पर रहिए॥"
"हिंदू तुरक की एक राह है, सतगुरु यहै बताई।"
कहै कबीर सुनो हो सन्तो राम न कहेउ खुदाई॥"

कबीर के इन उपदेशों से जनता बहुत ही अधिक प्रभावित हुई। सब से अधिक आश्चर्य की बात यह हुई कि हिंदू और मुसलमान, जो पहले एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे, अब पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा करने लगे और अल्पकाल में ही दोनों एक दूसरे के सन्निकट आगये। इस प्रकार विश्व-बन्धुत्व की भावना को प्रसारित करने में कबीर को विशेष सफलता मिली।

कबीर निर्गुण भक्ति के मानने वाले थे। उन्होंने ईश्वर के निराकार रूप को ही माना है। निराकार की उपासना होती है, भक्ति नहीं। भक्ति के लिए तो साकार वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। किंतु कबीर ने अपने निर्गुण भक्ति की प्रधानता बताई है। यही उनकी विशेषता है। किन्तु इस विषय में इदमित्थं नहीं कही जा सकता है, क्योंकि निराकार की प्रेमपूर्ण भक्ति नहीं की जा सकती है। उनकी निराकार उपासना में भक्ति का रूप देखकर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उन पर प्रेम मार्गी सूफियों का यत्किंचित प्रभाव पड़ा होगा। सूफी सम्प्रदाय के लोग परमात्मा को अपना स्वामी मानते हैं। कबीर ने भी आत्मा को स्त्री और परमात्मा को पुरुष माना है। इस प्रकार उन्होंने सांसारिक प्रेम का सामंजस्य उस परब्रह्म परमात्मा के प्रेम के साथ करके एक बड़े ही सुन्दर रहस्यवाद की सृष्टि की है। सन्त कवियों में उनका यह रहस्यवाद अपना निराला है। इस प्रकार उनका यह रहस्य-

वाद अद्वैतवाद और सूफीमत के मिश्रण से बना है। उनका प्रेम पति-पत्नी का प्रेम है। जब तक स्त्री अपने पति से नहीं मिलती है तब तक वह विरहिणी रहती है, उसे अपार कष्ट होता है, और उसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा से मिलने के लिए छटपटाती रहती है किंतु मिलने पर उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती हैं।

कबीर की इस रहस्यवादी कविता में उलटवासियों का महत्व-पूर्ण स्थान है। इनमें उन्होंने रूपकों की सहायता से एक नये ही संसार की सृष्टि की है जिसमें सुधीवृन्द विचरने को तो लालायित रहते हैं किन्तु अन्तर्वर्ती मार्ग को न पाकर निविड़तम में ही भटक कर रह जाते हैं। वे अपनी कल्पना से उस मार्ग का रूपक तो बाँध लेते हैं किन्तु निश्चयात्मिका बुद्धि से वे भी कुछ नहीं कह पाते हैं।

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास॥
ना तलि तपति न ऊपर आगि, तोर हेत कहु कैसनि लागि।
कहै कबीर जे उदिक समान; ते नहीं मुए हमारे जान॥

कविता——महात्मा कबीर कवि नहीं थे। वह तो एक प्रकार के उपदेशक थे। वह अधिक पढ़े लिखे भी नहीं थे। वह कवि कर्म से परिचित नहीं थे।

'मसि कागद छुआ नहिं।''

इसी से उनकी कविता में काव्य सम्बन्धी कुछ दोष आ गये हैं। उनका अनुभव अवश्य बढ़ा चढ़ा था, जिसके बल पर उन्होंने प्रभावोत्पादक कविता से जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। वह मानव-समाज की सभी वृत्तियों से परिचित थे इसी से वह उनको अपनी ओर लाने में विशेष सफल हुए। हम देखते हैं कि उनकी कविता में—उपदेशों में एक प्रकार का आकर्षण है जो जनसमुदाय को सहसा ही प्रभावित कर लेता है। उनकी रहस्यवादी विचार-धारा हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है, उससे हमारा साहित्य चमत्कृत हो उठता है।

कबीर का यह सब प्रयास जन-समुदाय को एक निश्चित मार्ग प
लाने के लिए था। उसको व्यर्थ के आडम्बर-जाल से निकालने के लि
था। वह हमारे जाति-पाँतिगत दोष, मूर्ति पूजा, रोजा, नमाज सब
खण्डन करते थे। वह तो कहा करते थे—

"दुनिया ऐसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चाकी कोई न पूजे, जेहि का पीसा खाय॥
हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।
वेश्या के पाँयन तर सोवे, यह देखो हिंदुआई॥
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी मुरगा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहि में करैं सगाई॥

अतएव—

कहै कबीर एक राम जपुरे, हिन्दू तुरक न कोई॥

महात्मा कबीर के उपदेश सभी प्रकार के तत्वों से परिपूर्ण हैं
उन्होंने प्रेम-महिमा, गुरु महिमा, शिष्य महिमा, सत्संग महिमा आदि
सभी के रहस्यों का उद्घाटन सम्यक् रूप से किया है। उनके ये उपदेश
तत्कालीन ही नहीं अपितु चिरंतन हैं। जब तक संसार है, ये "मानव
समुदाय का पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे, और बदले में वह उनका गुण-गान
करता रहेगा।"

"जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, यामैं दो न समाहिं॥
केसन कहा बिगारिया, जो मूड़ो सौ बार।
मन को क्यों न मूड़िया, जामें विषय विकार॥
प्रेम-प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न चीन्है कोय।
आठ पहर मीना रहे, प्रेम कहावे सोय॥"

"कङ्कड़ चुन चुन महल बनाया, लोग कहैं घर मेरा है।
ना घर मेरा ना घर तेरा, चिरिया रैन बसेरा है॥"
"जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कथी गियानी॥"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महात्मा कबीर पहले सुधारक थे। तदुपरांत कवि-सुधारक की दृष्टि से उनका उच्चतम स्थान है। उनके ये उपदेश सभी वर्गों के लोगों के लिए उपयुक्त हैं। एक अनपढ़ा व्यक्ति भी उनसे कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकता है। उनके कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ सुधीवृन्द तथा बड़े बड़े मनीषी तक चकरा जाते हैं। उनकी उलट-बासियाँ ऐसी हैं।

भाषा——यह बात तो पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि महात्मा कबीर कुछ पढ़े लिखे तो थे नहीं, उन्होंने सत्संग किया था और इसी से संसार की सभी प्रवृतियों का उन्हें अनुभव अवश्य हो गया था। उनकी भाषा में परिमार्जन नहीं था। वह तो उपदेशक थे। अतएव उन्होंने आवश्यकतानुसार शब्दों को कुछ तोड़ा मरोड़ा भी है। इसी से उनकी भाषा में विविध प्रकार के शब्दों का संमिश्रण हो गया है। उन्होंने स्वयं कहा है कि "मेरीं बोली पूरबी" फिर भी उनकी भाषा में खड़ी बोली, ब्रजभाषा, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी फारसी आदि अनेक भाषाओं के शब्दों का पुट है जिससे उसमें एक प्रकार की विचित्रता सी आ गयी है।

शब्दों के इस सम्मिश्रणाधिक्य का मूल कारण यही है कि कबीरदास जी ने देश देशांतर का भ्रमण किया था, साथ ही विभिन्न जनपदीय साधु-सन्तों का सत्संग भी किया था।

"कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोई।
राम कहे भला होइगा, नहिं तर भला न होई॥"
"जहँ जरा मरन व्यापै नहीं, मुवा न सुनिये कोइ।
चलि कबीर तेहि देसड़े, जहँ वैद विधाता होइ॥"
आँखड़ियाँ झाईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़या, राम पुकारि पुकारि॥"
"लूण विलग पाणियाँ, पाणी लूण विलगी॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके उच्चारण पर भी जनपद भाषाओं का प्रभाव है। उनकी उक्तियों में पंजाबी मुहावरों का प्रयो अति सुन्दर हुआ है। पंजाबी में विवेक को "बवेक" कहते हैं। बंगा में "था" के लिये आछिलो (छिलो) प्रयुक्त होता है। कबीरदास जी भी ऐसे ही प्रयोग किये हैं।

"कहत कबीर कछु आछिलो जहिया।"

उनमें अपभ्रंश रूप भी मिलते हैं। संस्कृत वर्ज्य से "बाज" तुल दास ने और "बाझ" जायसी ने बनाकर अपने भावों की अभिव्यक्ति की थी। कबीरदास जी ने भी ऐसा ही किया है।

"भिस्त न मेरे चाहिए, बाझ पियारे तुज्झ।"

उनकी भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का भी अधिक प्रयो हुआ है।

"हम मसकीन खुदाई बन्दे, तुम्हारा जस मनि भावै।
अलह अवलि दीन का साहिब, जोर नहीं फुरमाया।"

इस प्रकार साधारण रूप से उनकी भाषा सरल है, सर्व-साधार उसको भली-भाँति समझ सकता है। किन्तु उनकी उलटवासियों भाषा अत्यन्त क्लिष्ट है। उनको हृदयंगम करने की शक्ति साधार व्यक्तियों में तो क्या, सुधी मतिमानों तक में नहीं है। वे उनके दर्शनमा से ही अचकचा कर रह जाते हैं। एक उदाहरण देख लीजिये—

"सन्तो बोले तो जग मारै।
अनबोले ते कैसक बनि है, सब्दहि कोइ न विचारै।
पहिले जन्म पूत को भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज को काछे॥
दादुर राजा ठीका बैठे, विषहर करै खवासी।
स्वान बापुरा घरनि ढाँकनो, बिल्लीं घर में दासी॥
कागद कार कार कुराड आगे, बेल करै पटवारी।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो भैंसे न्याय निबारी॥"

"यही नहीं वह अपने हठ योग के रूपकों में अनहद नाद बजा कर "सुन्न महल" में निवास कराते हैं, और 'औंधे कुए का' पानी पिलाते हैं।" इसी के कारण उनकी वाणी में जटिलता अधिक आ गई है। उनकी रहस्यवादी उक्तियों की वाणी भी इसी प्रकार जटिल है। वहाँ सर्वसाधारण की गम्य नहीं है।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं, कि महात्मा कबीर ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए सभी उपलब्ध साधन प्रयुक्त किए हैं। अधिक पढ़े लिखे न होने के कारण उनकी भाषा में न तो स्थिरता ही है और न अधिक शुद्धता ही। कविता का और विशेष कर अटपटी शब्दावली का साधारण जनता पर विशेष प्रभाव पड़ता है। सम्भव हो सकता है कि इसी उद्देश्य से, विशेषकर अपने उपदेशात्मक संदेश की सफलता के लिए, उन्होंने इस प्रकार की वाक्यावली को अपनाया। इस खींचातानी से उनकी कविता में कुछ कर्कशता एवं अक्खड़पन सा आ गया है जो कर्णकटु दोष का प्रधान लक्षण है।

यह सब होते हुए भी इतना तो निष्पक्ष रूप से कहा ही जा सकता है कि महात्मा कबीर अपने युग के अप्रतिम कवि, महात्मा, उपदेशक एवं सुधारक थे। उन्होंने भाषा एवं संस्कृति का जो प्रयास किया, साम्प्र- [illegible] कलह एवं विद्रोह की भावना को समूल नष्ट करके विश्वबन्धुत्व [illegible]वना से जन-हृदय को ओत-प्रोत कर देने का उन्होंने जो सफल [illegible] किया, वह चिरस्मरणीय रहेगा, और जब तक हिंदी साहित्य [illegible]ंदी साहित्य ही नहीं, विश्व साहित्य भी है—तब तक महात्मा [illegible] का तत्सम्बंधी साहित्य में उच्च स्थान रहेगा। वह सविशेष [illegible] एवं प्रतिष्ठा के पात्र रहेंगे और उनकी पूत-वाणी जन हृदय [illegible]नी ओर आकर्षित करती रहेगी।

[illegible]बीरदास के इस गुण ने सैकड़ों वर्षों से उन्हें साधारण जनता का [illegible]र साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही [illegible]म और विश्वास के आस्पद भी बन गये है। सच पूछा जाय तो कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा उनसे प्रेम अधिक करती

है। इसी लिए उनके साथ ही उनका कवि रूप बराबर चलता रहता है वे केवल नेता और गुरु ही नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं। धन्य है ऐसी महान् आत्माओं को। वास्तव में सृष्टि भी ऐसी ही दैवी शक्तियों पर आधारित है। महात्मा कबीर भी ऐसी दैवी शक्ति से सम्पन्न थे। उन्होंने हमारे समाज में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी और धर्म के नाम पर चलने वाले अनेक वितण्डावादों का खण्डन करके जन-साधारण की बोलचाल की भाषा द्वारा समाज को जागृत किया। ऐसे महान् कार्य एवं सुधार करने वालों में कबीर का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। दूसरे शब्दों में आधुनिक साम्यवादी सिद्धान्तों का निरूपण सर्व प्रथम कबीर ने ही किया था। उनकी समदृष्टि थी अतएव उनके लिए न तो कोई छोटा था और न बड़ा। उनकी यह समस्त भावना पारस्परिक कलह के निराकरण में पूर्ण-रूपेण सफल हुई।

मलिक मुहम्मद जायसी

जीवन परिचय--मलिक मुहम्मद जायसी अवध के रहने वाले थे। कहा यह जाता है कि उनका जन्म जायस नामक ग्राम में हुआ था। इसी से वह जायसी कहलाये। वह कृषक वर्ग के थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'आखिरी कलाम' में अपने जन्म के सम्बन्ध में कुछ निर्देश किया है।

"नौ सौ बरिस छतिस जब भए। तब एहि कथा के आखर भए॥
भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि वदी॥"
'देखो जगत धुंध कलिमाँहा। उवत धूप धरि आबत छाहाँ॥
यह संसार सपन कर लेखा। मागत बदन नैन भरि देखा॥"

इस कथन के अनुसार जायसी का जन्म ९०६ हिजरी में हुआ था। जनश्रुति है कि उनके बचपन में ९११ हिजरी के लगभग भारत में एक बड़ा भारी भूकम्प आया था और ९०८ हिजरी में सूर्य-ग्रहण भी पड़ा था। चेचक के प्रकोप से बाल्यावस्था में उनकी एक आँख जाती रही और एक कान भी बहरा हो गया। चेचक के भयंकर प्रकोप से उनका रूप अत्यधिक कुरूप हो गया। इसी बाल्यावस्था में ही उनके मातापिता भी परलोक सिधार गये। अतएव हम सहज ही में इसका अनुमान लगा सकते हैं कि अनाथ जायसी का जीवन निर्वाह अत्यन्त कष्ट के साथ हुआ होगा। कहा जाता है कि उनके कुरूप को देखकर शेरशाह को हँसते हुए देखकर इन्होंने उससे कहा था :—

"मोहि का हंसेसि कि कोहरहिं।"

अर्थात आप मुझ पर क्या हँस रहे हैं, आप उस कुम्हार रूपी ईश्वर पर हँस रहे हैं। उनके इन शब्दों को सुनकर बादशाह बहुत ही लज्जित हुआ। साधु सन्तों के संपर्क से जायसी बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने

हिंदू सन्तों से ज्योतिष, वेदान्त, रसायन आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वह सूफी मत की ओर आकृष्ट होगये। शेखमुहीउद्दीन उनके गुरु थे। वह भी प्रसिद्ध सूफी फकीर थे। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिन्दू देवी देवताओं का आदर के साथ उल्लेख किया।

जायसी अपने समय के प्रसिद्ध पीर थे। उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम भाग अमेठी के गगरा बन में बिताया। जनश्रुति है कि जायसी अन्य पशुओं का रूप भी रख लिया करते थे। यह सुनकर वहाँ के राजा ने उस क्षेत्र में शिकार खेलने पर प्रतिबंध लगा दिया था। कहा जाता है कि एक रात को शेर की दहाड़ सुनकर एक शिकारी ने गोली चला ही दी, किंतु जब समीप जाकर देखा तो जायसी का मृत शरीर मिला। यह देखकर वह शिकारी अत्यन्त दुखी हुआ। उस स्थान पर आज भी उनकी समाधि बनी हुई है। कहा जाता है कि उनका देहावसान १६०० विक्रमी संवत् के लगभग हुआ था।

रचनाएँ—कहा जाता है कि जायसी ने २१ ग्रन्थों की रचना की, किन्तु इस समय केवल ३ ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं :—

१—पद्मावत, २—अखरावट, ३—आखिरी कलाम।

पद्मावत में राजा रतनसेन और सिंघलदीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। इसमें दोनों ही की प्रेम-पीर बड़ी सुन्दरता के साथ दिखलाई गई है। रानी नागमती का वियोग वर्णन हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। इसका कथानक ऐतिहासिक है। यह फारसी की मसनवी शैली के आधार पर लिखा हुआ एक प्रबन्ध काव्य है जो ५७ खण्डों में विभक्त है। प्रेम गाथाओं में इस प्रबन्ध काव्य का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

अखरावट—इसमें दो प्रकार के पद्यों का प्रयोग किया गया है—कुछ पद्यों में अक्षरों का क्रम है और कुछ में नहीं। इसमें गुरु-चेला-संवाद है जिसके द्वारा कवि ने जीव-संबंध तत्वों की अभिव्यक्ति की है।

आखिरी कलाम—यह ९३६ हिजरी में लिखा गया है। इसकी शैली अन्य ग्रंथों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। इस ग्रन्थ में कवि ने अपने

जीवन की कुछ घटनाओं का भी वर्णन किया है। उनमें एक भूकम्प का आना और सूर्य-ग्रहण का पड़ना भी वर्णित है। इन घटनाओं से उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ परिचय मिल जाता है।

काव्य साधना—जायसी अपने समय के उत्कृष्ट सूफी फकीर थे। इसीसे उनकी रचनाएँ धार्मिक भावना से परिपूर्ण हैं। उनमें भगवत्पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले रूपकों की सृष्टि की गई है। ऐसे रूपक हिन्दी साहित्य में अप्रतिम हैं। वह भाग्यवादी थे, और वेद, पुराण, कुरान आदि में आस्था रखने वाले थे। कबीर की भाँति उन्होंने भी गुरू का सर्वोत्कृष्ट स्थान निर्धारित किया है—उन्होंने मुहम्मद साहब को ईश्वरी पैगम्बर माना है।

उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रेम-वर्णन भी बड़े ही अच्छे ढंग से किया है। अपने इसी प्रेम को विशेष महत्व-पूर्ण बनाने के लिए उन्होंने कहीं कहीं पर उसे ईश्वरोन्मुख भी बना दिया है। अपने इस उद्देश्य के लिए उन्होंने रूपकों को आधार बनाया है। कहीं-कहीं पर अन्योक्ति की शैली भी उन्होंने अपनायी है। अपने पद्मावत के अन्त में उन्होंने इसे पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है।

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिन चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोई न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

इस प्रकार पद्मावत कीकथा दो अर्थों से युक्त है। उसे लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही पक्षों में घटाया जा सकता है। इसीसे उसमें रहस्यवाद का भी पुट आ गया है। पद्मावट के प्रेम खण्ड में उच्चकोटि के रहस्यवाद का वर्णन किया गया है। महात्मा कबीर तो कहते थे :—

"मो को कहाँ ढूँढ़ै बन्दे," मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल, ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में॥'

किन्तु जायसी कहते हैं :—

"पिउ हृदय में भेंट न होई। कोरे मिलाव, कहौं केहि रोई।
मानसरोदक खण्ड में उन्होंने प्रियतम का सामीप्य दिखलाया है:—
देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अँधियार, रैन-मसि छूटी। भा भिनसार, किरिन-रवि फूटी॥
कवल विकस तस विहँसी देही। भँवर दसन होइ कै रस लेहीं॥

और भी देखिए :—

"काम-क्रोध तिसना-मद-माया। पाँचों चोर छाँडहि काया॥
नवों सेंध तिनकै दिठि यारा। घर मूसहिं निसि, की उजियारा॥"

उन्होंने अपने ' 'अखरावट' में भी इसी प्रकार लिखा है:—
"ओहि ना वरन, न जाति अजाती। चंदन सुरुज, दिवस न राती॥
कथा न अहै अकथ भा रहई। बिना बिचार समुझि का परई॥

सोऽहं सोऽहं बसि जो करई। जो बूझै सो धीरज धरई॥
कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझै सो सिद्ध गियानी॥

माटीकर तन भाँड़ा, माटी महँ नव खण्ड।
जे केहु खेलै माटि महँ, माटी प्रेम प्रचंड॥"

जायसी का विरह वर्णन हिंदी साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है। कवि ने उसे और भी अधिक विशद एवं महत्वपूर्ण बनाने के लिए अत्युक्तिपूर्ण बना दिया है, और अशेष सृष्टि के साथ उसका सामञ्जस्य बैठा दिया है, जिससे प्रेमी और प्रेमिका के विरहोन्मत्त होते ही अशेष सृष्टि की सहानुभूति उनके साथ हो जाती है। धन्य है ऐसे कवि को। सब चराचर पशु पक्षी भी विरह वेदना से पीड़ित हो जाते हैं। गेहूँ का हृदय विरह के ही कारण फटा हुआ है और कौवा काला हो गया है। नागमती की अश्रु धारा से अखिल सृष्टि परिप्लावित हो गई है :—

"तेहि दुख भए परास निपाते। लोह बूड़ि उठे हुइ राते॥
राते बिंव भीज तेहि लोहू। पखर पाक, फाट हिए गोहूँ।"

महाकवि सूर ने विरह दुखिता गोपियों की हृदय की टीस इसी प्रकार व्यक्त की है :—

मधुबन तुम कत रहत हरे ?
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?
हमारे मानस में भी इसी प्रकार का विरह वर्णन है :—
हे खग मृग, हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृग नयनी॥

अपने इन्हीं वर्णनों को और भी अधिक उत्कृष्ट बनाने के लिए कवि ने रूपक, उत्प्रेक्षादि अलंकारों का भी यथा स्थान समीचीन प्रयोग किया है। इस विषय में इतना संकेत कर देना आवश्यक है, कि जायसी ने सादृश्यमूलक अलंकारों का आश्रय अधिक लिया है। इसमें उपमा उत्प्रेक्षा, रूपक का व्यवहार अधिक है।

कँवलकली तू, पदमिन, यह निसि भएउ विहानु।
अबहुँ न संपुट खोलसि, जब से उवा जग भानु॥

पद्मावती के नेत्रोन्मीलन पर कवि कहता है —
भानु नाव सुनि कंवल विकासा। फिर कै भंवर लीन्ह मधुवासा।

कुछ अलंकारों के उदाहरण और देख लीजिए :–

१—का भा जोग-कथित के कथे। निकसै घिउन बिना दधि मथे॥
दृष्टान्त
२—रतन चला भा अधियारा। परिकराँकुर
३—कवलहि विरह-विथा जस बाढ़ी। केस बरन पीर हिय गाढ़ी।
४—रंक रकत रह हिरदय राता।
५—एइ बगमेल सेन घन घोरा। औ गजमेल अकेल सो गोरा॥

भाषा और शैली—जायसी ने अपने ग्रन्थों में ठेठ अवधी भाषा का प्रयोग किया है। अवधी के भी दो रूप हैं—पूर्वी और पश्चिमी। जायसी ने अवधी के पूर्वी रूप को अपनाया है। इतना अवश्य है कि उनकी रचनाओं में कुछ पश्चिमी रूप भी मिल जाते हैं। इस प्रकार उन्होंने नये पुराने और पूर्वी और पश्चिमी कई प्रकार के रूपों को प्रयुक्त किया है।

१—'सुनि तुम कहँ चित उर मदँ, कहिउँ कि भेटों जाइ।
२—जोवन नीर घटे का घटा। सत्त के वर जौ नहिं हिय फटा॥
३—आवा पवन बिछोह कर, पात परा विकरार।
तरिवर तजा जो चूर के, लागे केहि के डार॥

उन्होंने कहीं-कहीं पर बहुत ही अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है और शब्दों के रूपों को भी कुछ बिगाड़ा है—

१—जंघछपा कदली होइ बारी। (जंघ-जंघा से)
२—करन पास लीन्हेउ कै छंदू।(पास-पाश से)

उन्होंने सम्बन्ध वाचक सर्वनामों के रूपों में भी लोप किया है।
"कह सो दीप पतँग कै मारा॥
शब्दों की तोड़-मरोड़ के भी कुछ उदाहरण देख लीजिये—
१—राजै वलि दीन्हा, नहिं जाना **बिसबास**
२—तेहि **निरास** प्रीतम कहँ

जायसी की भाषा बोलचाल की भाषा है और सीधी सादी है। उन्होंने अपनी भाषा को क्लिष्ट बनाने का प्रयत्न नहीं किया है। शब्दों को सरल और बोधगम्य बनाये रखने के लिए उन्होंने असमास शैली का व्यवहार किया है। समास, यदि कहीं पर आये भी हैं, तो दो पदों से अधिक के नहीं हैं।

उनकी भाषा में फ़ारसी की छाया भी नहीं है। वह विशुद्ध हिन्दी

है। जिसके शब्द रूपों का कुछ परिवर्तन अवश्य कर दिया गया है। बादशाही दरबार वर्णन में अरकान, वारिगह आदि शब्द आये हैं। किंतु उनकी संख्या अत्यन्त स्वल्प है। इन्हीं सब कारणों से उनकी भाषा में माधुर्य अधिक है। वह काव्योचित है और प्रसंगानुकूल भावाभिव्यक्ति के लिए पूर्ण समर्थ है।

जायसी की शैली अपनी निराली है। उसका मूल आधार फ़ारसी की मसनवी शैली है। हिन्दी में जायसी ने ही उसका सर्वप्रथम सफल प्रयोग किया है। इसके लिये उन्हें किसी का भी अनुकरण नहीं करना पड़ा है। उनकी सूक्तियाँ, अन्योक्तियाँ एवं समासोक्ति निराली हैं, हिन्दी साहित्य में वे अप्रतिम हैं।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि महाकवि जायसी प्रेममार्गी सूफी कवियों में सर्वोपरि थे। उन्होंने उस युग में जब कि मुसलमानों की सर्वत्र धाक थी, हिन्दी में महत्वपूर्ण रचनाएं करके उसके साहित्य भंडार की जो अभिवृद्धि की, उसके लिए हिंदी जगत सदैव कृतज्ञ रहेगा। एक मुसलमान होते हुए भी, उन्होंने हिंदी की जो सेवा की वह सर्वथा प्रशस्य है। मुसलमान कवियों की ऐसी साहित्य-साधना देखकर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने आनन्दविभोर होकर एक स्थल में अपने हार्दिक भावों को व्यक्त करते हुए उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट की है—

"इन मुसलमान कवि जनन पै कोटिक हिंदू बारिये।"

वास्तव में रहीम, जायसी, आलम आदि मुसलमान कवियों की हिंदी साहित्य-सेवा ऐसी ही प्रशंसनीय है। जायसी ज्योतिष, दर्शन, भूगोल, खगोल, हठयोग आदि के पूर्ण ज्ञाता थे। पद्मावत में उन्होंने अपनी इस योग्यता का सफल प्रदर्शन किया है। उनमें सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने किसी भी धर्म का खण्डन मण्डन नहीं किया। इससे उनकी उदार प्रवृत्ति एवं समदर्शिता का पता लगता है। कोमल-कांत-पदावली में अपनी भावाभिव्यक्ति करने में वह पूर्ण समर्थ थे। उन्होंने अपने काव्य में रहस्यवाद का भी सुन्दर समावेश किया है। इनके रहस्यवाद की

अभिव्यंजना अत्यन्त सरल और सुस्पष्ट है। उसमें कबीर की उलटवासियों का सा चक्कर नहीं है। इन्हीं सब कारणों से जायसी हमारे साहित्य के सर्वोत्कृष्ट कवियों में गिने जाते हैं। प्रेम-मार्गी शाखा के कवियों में तो वह सर्वोत्कृष्ट हैं ही। उनकी दोहा चौपाइयों की शैली उनकी अपनी शैली है। इसमें उनकी प्रबन्ध रचना पूर्ण रूपेण सफल हुई है। आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास जी तथा अन्य कवियों ने भी इसी-दोहा-चौपाइयों की शैली को अपना कर अपनी-अपनी रचनाएं कीं। इनमें गोस्वामीजी का मानस एक ऐसा काव्य है जिससे सभी कवि-कुमुद सर्वदा ही अनुप्राणित होते रहेंगे।

बाँदा जिले के राजापुर में हुआ था

महाकवि तुलसीदास

जीवन परिचय——महाकवि तुलसी के जन्म-काल का अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका है। विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग १५८९ जन्म संवत् मानते हैं, कुछ १५८३ और कुछ १५५४। अतः ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि तुलसी का जन्म किस सम्वत् में हुआ। यह तो निर्विवाद ही है कि तुलसी का जन्म १६ वीं शताब्दी में हुआ था।

जितना विवाद तुलसी के जन्म-काल के विषय में है लगभग उतना ही विवाद उनके जन्म-स्थान के विषय में भी है। किन्तु अब तक की जितनी खोज हुई है उसके आधार पर यही निश्चित होता है कि तुलसी का स्थान राजापुर (जिला बाँदा) ही में हुआ था।

इनके पिता का नाम आत्माराम तथा माता का नाम हुलसी था। यह सरजूपारी ब्राह्मण थे। ऐसा कहा जाता है कि इनके जन्म के पश्चात् इनको माता-पिता ने त्याग दिया था। इनके काव्यों में कई स्थान पर माता-पिता द्वारा त्यागे जाने की बात मिलती है। सम्भव है इनके माता पिता की मृत्यु इनके जन्म के पश्चात् ही हो गई हो।

जनक जननि तज्यो जनमि,
करम बिनु बिधि सिर ज्यौ अब डेरे।
(वि० पत्रिका)

माता पिता द्वारा त्यागे जाने पर इन्हें बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़े, द्वार द्वार भटकना पड़ा, जैसा कि उनकी लिखी एक पंक्ति (कवित्त रामायण) से प्रकट होता है।

'बारे ते ललात बिलखात द्वार द्वार दीन।'

तुलसीदास जी के गुरु श्री नरहरिदास थे जिन्होंने उनकी शिक्षा दीक्षा का भार ले लिया था और उन्हीं के प्रसाद से तुलसी के हृदय में राम-नाम-प्रेम का अंकुर उदय हुआ। ऐसा संकेत उन्होंने कई वार किया है।

"बन्दों गुरु-पद-कञ्ज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।
"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सुसूकर खेत॥"

सम्भव है इन्हीं गुरु की कृपा से उन्हें तुलसीदास नाम प्राप्त हुआ। क्योंकि इन्होंने स्वयं अपना नाम रामबोला एक स्थान पर बतलाया है।

राम कौ गुलाम नाम राम बोला राख्यौ राम।"

तुलसी का विवाह दीन बन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था। यह प्रसिद्ध है कि इन्हें अपनी पत्नी से बहुत अधिक प्रेम था—ये एक क्षण के लिए भी अपनी पत्नी से विलग न होते थे। एक बार इनकी अनुपस्थिति में इनके साले इनकी धर्मपत्नी को माइके लिवा ले गये। तुलसी जब घर आये तो इन्हें सब समाचार ज्ञात हुआ। ये बड़े दुखी हुए और उसी समय अपनी पत्नी को लेने के लिए चल पड़े। उस समय घनघोर वर्षा हो रही थी, हाथ को हाथ नहीं सूझता था। गंगा में भयंकर बाढ़ आई हुई थी। किन्तु इन्होंने कुछ भी चिन्ता नहीं की। नदी को तैर कर पार किया और एक साँप की सहायता से चढ़कर घर के आँगन में पहुँच गये। रत्नावली को यह सब देखकर महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने यह कल्पना भी नहीं की थीं कि इतना साहस तुलसीदास कर सकेंगे। रत्नावली बड़ी बिदुषी और लज्जाशील स्त्री थी। उन्होंने पति को इस प्रकार विषयानुरक्त देख कर एक करारी चोट दी जिससे तुलसी एक नवीन और अनोखे तुलसी बन गये।

उन्होंने कहा:—

"लाज न आवत आपको, दौरे आयहु साथ।

धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥

अस्थिचर्म मय देह मम तामें जैसो प्रीति।
तैसी जो श्री राम में, होत न तौ भव भीति॥"

इन शब्दों ने तुलसी के मानस पर पड़े हुए झीने पट को टूक टूक कर दिया और उनको अपना साक्षात् वास्तविक स्वरूप दिखाई देने लगा। उसी समय से उन्होंने अपनी धर्मपत्नी ही को नहीं वरन् गृहस्थ आश्रम को ही सदैव के लिए नमस्कार कर लिया और काशी में निवास करके राम-भजन में लीन हो गये। कुछ दिनों काशी निवास के पश्चात् चित्र-कूट चले गए और फिर अयोध्या आ गये। इसी समय उन्होंने अपनी अमर कृति 'रामचरित मानस' का लिखना प्रारम्भ किया।

तुलसी की मृत्यु सम्वत् १६८० में हुई थी। इनकी मृत्यु के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है—

सम्वत सोरह सो असी, असी गंग के तीर,
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ शरीर।

कुछ लोग उक्त दोहे की तिथियों से सहमत नहीं हैं उनका कहना है कि :—

सम्वत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला तीज शनि तुलसी तज्यौ शरीर॥

तुलसी रचित ग्रन्थ—विद्वानों में इस विषय में पर्याप्त मत-भेद है कि तुलसी ने कितने ग्रन्थ लिखे। लगभग २५ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो तुलसी के लिखे हुए बताये जाते हैं, किंतु उनमें कुछ ऐसे भी हैं जो तुलसी की शैली से मेल नहीं खाते। सम्भव है किसी कवि ने तुलसी की कीर्ति को देखकर कुछ ग्रन्थ लिखे हों और उन्हें तुलसी के नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। जिससे तुलसी के साथ उसकी भी कीर्ति अमर हो जावे। निम्न ११ ग्रन्थों के विषय में कोई मत-भेद नहीं, ये तो अवश्य ही तुलसी के लिखे हुए हैं—

१—रामचरितमानस, २—कवितावली, ३—गीतावली, ४—दोहा-वली, ५—कृष्ण गीतावली, ६—बरवै रामायण, ७—पार्वती मंगल,

८—जानकी मंगल, ९—राम लला नहछू, १०—वैराग्य संदीपि
११—विनय-पत्रिका।

रामचरित मानस तुलसी का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। इसमें भगवान रा
के चरित्र का साँगोपाँग वर्णन है। मानस में तुलसी ने वह पावन भक्ति
धारा बहाई है जिससे मानस का प्रवेश प्रत्येक हिंदू घर में हो गया है
इस ग्रन्थ की रचना दोहे और चौपाइयों में हुई है।

विनय-पत्रिका तुलसी का अन्तिम ग्रंथ है। मानस और पत्रिका को
लेकर विद्वानों में संघर्ष हुआ करता है। कुछ मानस को सर्वश्रेष्ठ ग्रं
मानते हैं और कुछ पत्रिका को। लोगों का विचार है कि तुलसी ने
अंत में जो प्रार्थना-पत्र भगवान के सम्मुख उपस्थित किया है वही विनय
पत्रिका के रूप में प्रकट हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि विनय-पत्रिका
की भाषा और भावों की शृङ्खला कुछ ऐसी जटिल होगई है कि वह
मानस की तरह प्राणीमात्र की निधि नहीं हो सकी। संस्कृत भाषा का
पुट देकर तुलसी ने भाषा की रोचकता बहुत सीमा तक बढ़ा दी है।

ऐसा ज्ञात होता है कि विनय-पत्रिका के लिखते समय तुलसी में
पूर्ण विकास हो चुका था। उनकी भाषा उत्तरोत्तर विकसित होते हु
चरम सीमा तक पहुँच गई थी। गीतावली और कवितावली में रामा-
यण के कथानक को संक्षेप रूप में गाया गया है। सम्भव है, तुलसी यह
चाहते हों कि उनके राम के पावन चरित्र का प्रत्येक प्रचलित शैली में
वर्णन कर दिया जावे जिससे सभी रुचि के व्यक्ति उसका रसास्वादन
कर सकें। कृष्ण गीतावली में भगवान कृष्ण के चरित्र को पदों में गाया
गया है।

भाषा—तुलसी के ग्रन्थों की मुख्य भाषा अवधी है जिसके पूर्वी
और पश्चिमी दोनों रूपों पर उनका समान अधिकार है। ब्रजभाषा
पर भी तुलसी का उसी प्रकार अधिकार है जिस प्रकार अवधी पर।
ब्रजभाषा का स्वरूप तुलसी के ग्रंथ में शुद्ध साहित्यिक मिलता है, सूर
की तरह ग्रामीण ब्रजभाषा नहीं। साथ ही संस्कृत भाषा के मेल से

अवधी और ब्रज-भाषा दोनों ही का शुद्ध एवं उत्कृष्ट रूप हो गया है रोचकता भी पर्याप्त रूप में पाई जाती है। मानस वह सरस ग्रन्थ है जो अपनी सरलता के कारण जन-प्रिय हो गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने उस समय की प्रचलित भाषाओं को शुद्ध साहित्यिक रूप में प्रयोग किया है।

शैली—तुलसी ने अपने समय की प्रचलित सभी शैलियों में कविता की है। उस समय मुख्य रूप से पाँच शैलियाँ प्रचलित थीं। पहली वीर गाथा काल की छप्पय शैली जिसका प्रयोग यत्र तत्र लगभग सभी ग्रन्थों में पाया जाता है। दूसरी विद्यापति की गीत शैली जिसका प्रयोग गीतावली और विनय-पत्रिका में मिलता है। तीसरी भाटों की कवित्त शैली जिसका प्रयोग मुख्य रूप में कवितावली में हुआ है। चौथी सन्तों की दोहा शैली जिसका प्रयोग दोहावली एवं मानस में हुआ है। पाँचवी ईश्वरदास की दोहा और चौपाई शैली जिसका प्रयोग राम-चरितमानस में मुख्य रूप से हुआ है। यह सर्वमान्य है कि तुलसी का उस समय की प्रत्येक प्रचलित शैली पर पूर्ण अधिकार था। उन्हें सभी शैलियों में पूर्ण सफलता मिली।

तुलसी की कविता की विशेषता—गोस्वामी जी भक्ति-काल की रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि थे। उनका रामचरितमानस सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। मानस में रामचरित को लेकर तुलसी ने मानव हृदय के द्वन्द्व, उत्थान पतन, सुख दुःख एवं अन्यान्य सभी परिस्थितियों का विशद चित्रण किया है। यही कारण है कि सांसारिक प्राणियों को सब प्रकार से मानस के अन्तर्गत शान्ति मिल जाती है। जिस समय मानस की रचना गोस्वामी जी ने की उस समय यवन साम्राज्य भारत में पूरी तरह छा चुका था। भारतीय राजाओं की शक्ति ही नष्ट नहीं हो गई थी वरन उनका नैतिक पतन भी हो चुका था। साथ ही साम्प्रदायिकता का जोर बढ़ रहा था। लोग धर्म भ्रष्ट किये जा रहे थे।

उनकी रक्षा का कोई साधन नहीं था। ऐसे समय में केवल एक भगव का आश्रय ही मनुष्यों की शान्ति दे सकता था। उस समय की व्याकु जनता को मानस से पूर्ण शन्ति मिली। गोस्वामी जी से पूर्व ऐसा क भी कवि नहीं हुआ था जिसने सभी रसों पर विशद रचना की हो। श्रेय तुलसी को ही प्राप्त है कि नवों रस पूर्ण सफलता के साथ प्रयो में आये हैं। जहाँ तक छन्द और अलंकारों का सम्बन्ध है यह मान पड़ेगा कि तुलसी इसमें सिद्ध-हस्त थे। सभी अलंकारों का सफल पूर्वक प्रयोग हुआ है।)

गोस्वामी जी राम के स्वामी रूप के उपासक थे। वे सूर की तर सखा भाव के उपासक नहीं थे वरन् दास भाव से भगवान की उपासन करते थे।

तुलसी के समय में धार्मिक मत-भेद भी पूरी तरह से फैला हुआ था। शैव और वैष्णवों का संघर्ष चलता ही रहता था। मुसलमान ध तो पूरी तरह छा ही चुका था। शैव और वैष्णवों के वैमनस्य को तुलसी ने सदैव दूर करने का प्रयास किया।)उन्होंने अपने महाकाव्य मानस में, रामभक्त होते हुए भी वह नीति अपनाई जिसके कारण किसी को एक दूसरे से आपत्ति न रही। राम स्वयं अपने मुख से कहते हैं—

"शिव द्रोही मम दास कहावें, सों नर मोहि सपनेहुँ नहिं भावें।"

सीता स्वयं अपने वर राम को प्राप्त करने के लिए पार्वती जी की उपासना करती हैं—

"जय जय जय गिरिराज किशोरी। जय महेश मुखचन्द्र चकोरी।"

शिवजी ने स्वयं पार्वती जी को राम की कथा सुनाई थीः—

"रामचरित मानस मुनिभावन,
विरचेउ शम्भु सुहावन पावन।"
"रचि महेश निज मानस राखा,
पाइ सुसमइ शिवा सन भाखा।"

तुलसी की इस नीति का प्रभाव यह हुआ कि उत्तरी भारत के शैव और वैष्णवों का मतभेद सदैव के लिए समाप्त हो गया।

तुलसीदासजी वर्णाश्रम-धर्म को पूर्णरूपेण मानने वाले थे और इसी के आधार पर उन्होंने हिंदू संस्कृति की व्याख्या की। उन्होंने जाति तथा समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा का व्यतिक्रमण नहीं किया। उन्होंने विशेष खंडन-मंडन न करके आदर्शवादी मार्ग ग्रहण किया। उनका मानस इन सभी गुणों से परिपूर्ण है। उसमें उनकी प्रतिभा का विकास स्पष्ट झलकता है। उन्होंने मनुष्य की रागात्मिका वृत्तियों का इतना सुन्दर चित्रण किया है कि पाश्चात्य विद्वान भी उनकी धाक मान गये। उन्होंने एक मत से इस बात को स्वीकार किया है कि तुलसी के मानस से भारत-वासियों का मानस जितना प्रभावित हुआ है उतना योरुप की किसी भी पुस्तक द्वारा नहीं। वह भावों के सच्चे पारखी थे। उनकी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने सभी प्रकार की शैलियों को अपनाया और सभी में उन्हें पूर्ण सफलता मिली।

हमारे कलाकार गोस्वामी तुलसीदास हमारे आदर्श नेता और पथ प्रदर्शक थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति तथा आर्य-धर्म के पुनरुत्थान के लिए अपनी समस्त शक्ति लगा दी। इसके लिए उन्होंने हमारे परम आराध्य मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र जी के परम पावन आदर्श चरित्र की सृष्टि की जो सर्वत्र ही लोक मंगलकारी सिद्ध हो सकता है। इसीसे उनका रामचरितमानस महाकाव्य विश्वविख्यात महाकाव्यों एवं आख्यानों में सर्वोत्कृष्ट है। उसमें राजनीति का भी सुंदर समावेश हुआ है। उन्होंने आदर्श शासन पद्धति की कल्पना करके अपने मानस की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करदी है प्लेटो के प्रजातंत्र Republic तथा टामसमूर के Utopia आदि की गणना इनसे की जाती है।

"दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज्य नहिं काहुहि व्यापा॥"

इस प्रकार की शासन व्यवस्था में निरंकुशता का नाम भी नहीं है। इस प्रकार हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि तुलसी के सदृश अध्ययन

हिन्दी के अन्य कवियों में नहीं। उनका यह अध्ययन पुस्तकों तक सीमित न रह कर मानवीय अन्तःकरण तक जा पहुँचा है। प्रोफेसर माल्टन ने इनकी इस कला की भूरि भूरि प्रशंसा की है। तथा डाक्टर ग्रियर्सन ने भी मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा की है। इस प्रकार वह हमारे साहित्य के ऐसे काव्य-कलाधर हैं जिनकी कीर्ति-कौमुदी से अहर्निश समस्त जगत प्रकाशित रहता है।

महाकवि सूरदास

जीवन परिचय—सूरदास का जन्म सं० १५४० वि० में रुनकता नामक ग्राम में हुआ था जो मथुरा और आगरा के मध्य स्थित है। सूरदास जी के जीवन के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। लोग चौरासी वैष्णवों की वार्ता के आधार पर इन्हें सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं एवं कुछ महानुभाव "साहित्य लहरी" पुस्तक में आये हुए वंश-परिचय पद के आधार पर उन्हें चन्द्रभट्ट के वंश में उत्पन्न ब्रह्मभट्ट मानते हैं। अन्तिम मत अधिक युक्तिसंगत ज्ञात होता है क्योंकि चौरासी वैष्णवों की वार्ता पुस्तक में सूरदास जी के वंश के विषय में एक अक्षर भी लिखा हुआ नहीं है अतः साहित्य लहरी में जो वंशपरिचय पद है उसी को ठीक मानना पड़ेगा। इनके पिता का नाम बाबा रामदास था। कुछ विद्वानों का मत है कि सूरदास का विवाह भी हुआ था, और उससे एक सन्तान भी हुई थी, किन्तु इनकी धर्म-पत्नी एवं सन्तान की मृत्यु इनके जीवनकाल में ही हो गई थी। सूर प्रकृति से ही विरक्त थे।

सूर के विषय में जनसाधारण में बहुत सी किम्वदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग सूर को जन्मान्ध मानते हैं, कुछ का मत है कि उन काव्यों का अध्ययन करने के पश्चात् कोई भी विद्वान इसे स्वीकार नहीं कर सकता कि जन्मान्ध जिसने प्रकृति के नाना रूपों का दर्शन अपने पार्थिव नेत्रों द्वारा न किया हो इतना विशद एवं स्वाभाविक वर्णन कर सके। अतः अन्तिम मत ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

सूरदास जी महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और इन्हीं के

आदेश से इन्होंने श्रीमद्भागवत का अनुवाद भाषा पदों में किया था। प्रारम्भ में सूरदास रुनकता के समीप यमुना नदी के किनारे गौ-घाट पर अपने शिष्यों के साथ रहते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से परिचय होने पर यह इन्हीं के साथ श्रीनाथ जी के प्रसिद्ध मन्दिर में चले गये और अन्तिम रूप से वहीं रहने लगे। ऐसा कहा जाता है कि यहीं इन्होंने सूरसागर की रचना की थी।

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अष्ट-[illegible] की स्थापना की थी जिसमें आठ बड़े बड़े महात्माओं के नाम थे जो प्रकार हैं :—

सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास, और नंददास। सूरदास जी इन सब में अग्रगण्य थे। इनके सरस, भक्ति पूर्ण छन्दों की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई थी। इसीलिए कुछ लोग इन्हें उद्धव का अवतार मानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने सूरसागर में सवा लाख पद रचे थे। किंतु आज जो पद प्राप्त होते हैं उनकी संख्या दस सहस्र से अधिक नहीं है। सूरदास जीवन भर भगवान् कृष्ण की पवित्र लीलाओं के पद गाते रहे।

सं०त् १६२० वि० में अस्सी वर्ष की अवस्था में पारसोली गाँव में सूर ने अपनी जीवन लीला समाप्त की।

रचनाएँ—सूरदास जी के रचे हुए ग्रंथ सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी हैं। तुलसी के 'मानस' की तरह सूरदास जी का 'सूरसागर' ही वह प्रमुख ग्रन्थ है जिसमें सूर ने अपने हृदय के सभी भाव उड़ेल कर रख दिये हैं। ईसका एक एक पद भगवान् के प्रेम से ओत-प्रोत है! यद्यपि सूरसागर में श्रीमद्भागवत की सम्पूर्ण कथा को पदों में लाने का प्रयास किया गया था किंतु दशम् स्कंध के ऊपर इतने अधिक पद लिखे गये हैं कि यदि हम इसे दशम् स्कन्ध काव्य कहें तो अत्युक्ति न होगी। श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा जाने तक की कथा विस्तार के साथ फुटकल पदों में गाई गई है। भिन्न-भिन्न लीलाओं

के प्रसंग लेकर भावुक कवि ने वह रसमय धारा बहाई जो पाठकों को तन्मय कर देती है। अतः सूरसागर किसी गीति काव्य परम्परा का विकसित स्वरूप ही ज्ञात होता है। सूर सारावली और साहित्य लहरी दोनों ही ग्रन्थों में सूरसागर के कूट पदों का संग्रह है। ऐसा ज्ञात होता है कि सूरसागर के लिखने के पश्चात् यह दोनों ही ग्रन्थ एक साथ संकलित किये गए हैं।

भाषा—सूर की भाषा शुद्ध ग्रामीण ब्रजभाषा है। यह संस्कृत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। कहीं भी तुलसी की तरह कठिन संस्कृत भाषा के समासों का दर्शन करने को नहीं मिलेगा।

"संदेशो देवकी सों कहियो।
हौं तौ धाय तिहारे सुत की कृपा करतिही रहियो।
तुम तौ टेव जानतिहिं ह्वै हौतऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल-लड़ै तहि माखन रोटी भावै।"

सुत के अतिरिक्त सभी ब्रजभाषा के शब्द हैं। कहीं खटकने वाला शब्द न मिलेगा। सीधी साधी ग्रामीण भाषा की छटा देखते जाइये। सूर ने अपनी प्रतिभा से यह भली भांति सिद्ध कर दिया है कि ग्रामीण ब्रजभाषा को भी वह क्षमत्व है जिसके द्वारा उसे हिन्दी साहित्य के उच्चासन पर बिठाया जा सकता है। भाषा में यत्र तत्र फारसी और संस्कृत के शब्द भी मिल जाते हैं किन्तु इनकी संख्या बहुत कम है। सूर ने भाषा के प्रयोग में शब्दों की तोड़ मरोड़ भी बहुत अधिक की हैं। इतना सब होते हुए भी सूर की भाषा सजीव एवम् ओज पूर्ण है। भाषा में एक प्रवाह हैं जो सर्वत्र एक सा बहता रहता है। कहीं भी खटकता नहीं है। भाषा में अलंकारों का निर्वाह स्वभाविक रूप में होता जाता है, कहीं भी ठूँस ठाँस नहीं होती। उपमा और रूपक विशेष रूप से सधे हुए हैं। रसों की दृष्टि से यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि सूर ने मुख्य रूप से दो ही रसों का प्रयोग किया है—एक वात्सल्य और दूसरा शृंगार। सूर ने अपने इष्टदेव की जिस अवस्था का वर्णन किया है

इसके लिए ये दोनों ही रस उपयुक्त हैं। सूर का पूर्णरूपेण अध्ययन करने के पश्चात् हमें यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करना पड़ेगा कि सूर ही वह पहले व्यक्ति थे जिन्होने ग्रामीण ब्रजभाषा को शुद्ध साहित्यिक रूप प्रदान किया। सूर से पहले किसी ने यह कल्पना भी नहीं की थी कि ग्रामीण भाषा में भी इतना सुन्दर और मोहक चित्रण हो सकता है। यही कारण हैं कि सूर साहित्य, साहित्यिक व्यक्तियों एवम् साधारण व्यक्तियों को समान रूप से प्रिय है। प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी इस पर गर्व करता है।

शैली—सूरदास जी का साहित्य गेय है। वे स्वयं गायक थे और अच्छे गायक थे। उनकी ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी, इसी कारण श्री वल्लभाचार्य ने इन्हें कीर्तन का भार सौंपा था। इनके पद आज भी बड़ी रुचि से गाये जाते हैं। वह जिस समय तमूरा पर राग जमाते थे, उस समय अपने आपको भी भूल जाते थे। यही कारण है कि उनकी शैली में जो यत्र तत्र थोड़े बहुत दोष आ गये हैं वह शैली के कारण ऐसे छिप जाते हैं कि न पाठकों को कहीं विशेष रूप से खटकते हैं और न उनके जानने की कोई अधिक आवश्यकता रह जाती है। सूरदासजी ने समस्त रचना पदों में की है जिसे हम मुक्तककाव्य कह सकते हैं किन्तु पद ऐसे भी हैं जिन्हें क्रमवार रख देने से एक छोटा सा कथानक बन सकता है। कुछ अकेले पद ही अपने अन्दर एक कथा लिए बैठे हैं। कृष्ण लीलाओं के वर्णन में प्रायः ऐसा ही पाया जाता है। सूरदास जी के समस्त पद भिन्न भिन्न राग रागनियों के गुणों से अलंकृत हैं। सारांश यह है कि सूर की शैली पूर्णरूपेण आकर्षक, प्रभाव पूर्ण एवं प्रवाह पूर्ण है। सूर के इन्हीं छोटे छोटे पदों द्वारा पावन भक्ति की वह मन्दाकिनी नदी बही है जो प्राणी मात्र के कल्याण के लिए सदैव अविरल गति से प्रवाहित होती रहती है।

कविता की विशेषता :—सूरदास जी केवल कवि ही नहीं थे वरन एक उच्चकोटि के महात्मा भक्त थे। भक्तों की श्रेणी में उन्हें बहुत

ऊँचा स्थान प्राप्त था। ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भ में यह एक कुंए में गिर पड़े थे। कई दिन बाद भगवान ने स्वयं आकर उन्हें उस अन्धकूप से निकाला था। अन्धे होने पर भी उन्होंने भगवान को पहचान लिया और पकड़ लिया। सूर भला कैसे छोड़ देते, किन्तु भगवान ने बरबस उन से अपने को छुड़ा लिया और सूर को अकेला छोड़कर चले गये, तब सूर ने कहा—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानि के मोहि,
हिरदे से जब जाउगे मरद बदोंगों तोहि।

पर भक्त का यह उलाहना कितना सरस है। वास्तव में भगवान को उन्होंने हृदय से निकलने नहीं दिया। सूर की भक्ति सख्य भाव की थी। वह भगवान को अपना सखा तथा मित्र मानते थे। इसलिए उन्होंने भगवान के दोषों की ओर से भी आँखें बन्द नहीं कीं। जहाँ आवश्यकता हुई है वह भगवान को भी खरी खोटी सुनाने से नहीं चूके हैं। सूर सखा जो थे भगवान के। मित्र का कर्तव्य है कि यदि वह अपने मित्र की कोई भूल देखे तो उसकी ओर से उसे सतर्क कर दे। देखिये—

"ऊधौ कारे सब अजमाये !
यह मथुरा काजर की कोठरि जे आये ते कारे।
"तुम कारे सुफलक सुत कारे कारे भंवर हमारे॥"
"अब हौं अपने भरोसे लरिहों,
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपने भरोसे तरिहों॥"

सूरदास जी ने अपने महाकाव्य सूरसागर में भगवान कृष्ण के बाल रूप का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। विश्व का कोई भी कवि [इत]ना सुन्दर बाल-चरित्र वर्णन नहीं कर सकता है। सम्पूर्ण काव्य को [पढ़]ते समय ऐसा ज्ञात होता है मानों भगवान कृष्ण की लीलायें सामने हो रही हैं। कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं मिलेगी। ऐसा ज्ञात होता [है] मानों सूर अपनी लेखनी लेकर उस समय बैठे रहे हों जिस समय [भग]वान ने लीलायें की हों। इनके बाल चरित में बही हुई वात्सल्य रस

धारा का दर्शन कीजिये। बालक कृष्ण यशोदा के आँगन में घुटुअन चलते हुए दौड़ते हैं :—

शोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनुतन मंडित मुख दधि लेप किए॥
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि मनो मत्त मधुपगन मादक मदहि पिए।
कठुला कंठ बज्र केहरि नख राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख का सत कल्प जिए॥

सूर की बाल लीला की विचित्रता देखिए। भगवान कृष्ण बालक हैं। बालक भी वह हैं जिन्होंने राज्य सुख भोगा है, वह ग्रामीण वातावरण में पले हुए बालकों की बराबरी नहीं कर सकते हैं, फिर भी खेलने के लिए ग्वालों में जा पहुंचते हैं। बलराम उन्हें समझाते हैं क्योंकि ग्वाले ऐसे व्यक्ति को खिलाना पसन्द नहीं करते जो दाँव न दे सके, किन्तु कृष्ण नहीं मानते—

खेलत स्याम ग्वालनि संग ?
बरजैं हलधर स्याम तुम जनि चोट लगि है गोड़।
तब कह्यौ मैं दौरि जानत बहुत बल मो गात॥
+ × +
जानि कें मैं रह्यौ ठाढ़ौ छुवत कहा जु मोहि।
सूर हरि खीजत सखा सों मनहिं कीन्हों कोहि॥

आप ही आप तो खेलने पहुँच गये, समझाने पर भी माने नहीं। जब होड़ बदकर भागने का अवसर आया और देखा कि वह किसी भी प्रकार छूने से बच न सकेंगे, तो खड़े हो गये और बोले, "मैं तो जान कर खड़ा हो गया, अब तुम क्या छूते हो। कुछ भी हो, चाहे तुम जान कर खड़े हो गये हो अथवा अनजाने, चोर तो हो ही गये। अब दाव कैसे दें। अगर दाव देते हैं तो दो चार दिन में भी छुटकारा न हो सकेगा। किन्तु सखा लोग कैसे मानते।

सखा कहत हैं स्याम खिसाने ।
आपुहि आप ललकि भये ठाढ़े अब तुम कहा रिसाने ॥

झगड़ा प्रारम्भ हो गया। न्याय के लिए मामला उच्च न्यायालय में पहुँचा दिया गया। बलराम न्यायाधीश नियुक्त हुए। कितना सुन्दर निर्णय हुआ, न ग्वालों को कोई कहने-सुनने की बात रही और न कृष्ण ही को दाव देना पड़ा।

बीचहि बोलि उठे हलधर तब इनके माय न बाप ।
हार-जीत कहु नेक न जानत लरिकन लावत पाप ॥

जिसके बाप का पता नहीं उसकी बात का क्या ठिकाना। ग्वालों ने ऐसे व्यक्ति की बात पर जो विश्वास करके भूल की वह स्वीकार करली। मामला तै हो गया जिससे किसी को शिकायत न रही। किन्तु कृष्ण इसे कैसे स्वीकार करते, रोते हुए माता यशोदा के पास पहुँचे।

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायौ ।
मोसों कहत मोल को लीन्हौं तू जसुमत कब जायौ ॥

× × +

चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर ।

× × ×

सूर स्याम मो गोधन की सों हौं माता तू पूत ।

माता के यह आश्वासन दिला देने पर कि वे वास्तव में यशोदा ही के पुत्र हैं तब जाकर कहीं शान्ति उन्हें मिली। कितनी सुन्दर स्वभावोक्ति है। कहीं भी बनावट अथवा कल्पना न मिलेगी।

इसी प्रकार माखन चोरी लीला का बहुत ही सुन्दर वर्णन बन पड़ा है। भगवान चोरी करने जाते हैं, दधि-भाजन फोड़ कर मक्खन सखाओं को बाँट देते हैं। ग्वालिनें यशोदा को उलाहना देने आती हैं किंतु मनसे यही कामना करती हैं कि भगवान हमारे यहाँ माखन खाने आवें। इसी प्रकार यह नित्य प्रति का संघर्ष चलता रहता है। पकड़े जाने पर भगवान अपनी सफाई इतनी दृढ़ता से पुष्ट प्रमाणों द्वारा देते हैं कि देखते ही बनता है।

स्याम कहा चाहत से डोलत।
सूने निपट अँधियारे मन्दिर दधि भाजन में हाथ ।।

× × ×

मैं जान्यौ यह घर अपनों है या धोखे में आयौ।
देखत ही गोरस में चींटी काढ़न कों कर नायौ।

× × ×

इसी प्रकार जब ग्वालिनें कृष्ण को पकड़ कर यशोदा के सामने कर देती हैं और यशोदा पूछती हैं तो कृष्ण कितनी सरलता से उत्तर देते हैं मानों उन्होंने सचमुच कुछ किया ही न हो।

मैया मैं नाहीं दधि खाओ।
ख्याल परे यह सखा सबै मिल मेरे मुख लपटायौ ।।
देखि तुही छींके पर भाजन ऊँचे धरि लटकायौ।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करिपायौ ।।

इसका परिणाम क्या हुआ ?

डारि साँटि मुसकाइ तबहि गहि सुत को गोद लगायो।

जो यशोदा कृष्ण के उपालम्भ सुनते सुनते तंग आ गई थीं और उन्हें उनके इस कृत्य का समुचित दण्ड दे देना चाहती थीं वह भी उनके तर्क के सम्मुख निरुत्तर हो गईं।

सूर का बाल चरित इतना विशद है कि पूर्णरूपेण उस पर प्रकाश डालने के लिए एक नए काव्य की रचना करनी पड़ेगी। हमारा उद्देश्य यहाँ केवल उसकी स्वाभाविकता दिखाना है।

वात्सल्य के पश्चात् दूसरा रस जो सूर का मुख्य रस रहा है, वह है शृंगार रस। शृंगार के दो पक्ष होते हैं। एक वियोग पक्ष और दूसरा संयोग पक्ष। सूर ने दोनों ही पर बहुत कुछ लिखा है और वह पूर्णतया सफल भी हुए हैं। वास्तव में यही वह दो मुख्य रस हैं जिनका वर्णन करके सूर ने अपनी कीर्ति अमर करदी है। राधा और गोपिकाओं को लेकर जो प्रेम की पावन सरिता बही है उससे महाकाव्य में एक विशेष

रोचकता आ गई है। यद्यपि शृंगार रस-राज कहलाता है जिसके वर्णन में सभी ने कुछ न कुछ लिखा है किन्तु सूर का शृंगार-वर्णन सबसे अनोखा है; इसके अन्दर अपनी एक स्वाभाविकता है।

भगवान कृष्ण घर से खेलने निकले—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझै नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

राधा को कृष्ण ने देखा, देखते ही उसके रूप पर मोहित हो गये और पूछने लगे।

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहत काकी है बेटी देखी नाहिं कबहूँ ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रज तन आवत खेलति रहित आपनी पोरी।
सुनत रहत श्रवननि नन्द ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ सङ्ग मिलि जोरी।
सूर स्याम प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरई राधिका भोरी॥

राधा और कृष्ण का मेल हो गया। राधा नित्य प्रति कृष्ण के घर आने लगी, यह बात योशदा को खटकी। 'पराई लड़की का घर में आना अच्छा नहीं।' राधा से पूछ ही तो बैठी —

बार बार तू जनि ह्यां आवे ?
मैं कहा करों सुतहि नहि वरजति घर तें मोहि बुलावे।
मोसों कहत तोहि बिन देखै रहत न मेरो प्रान।

जो राधा इतनी भोली भाली है उसका प्रेम-परिपाक भी शिथिल होने वाला नहीं था "लरिकाई को प्रेम कहौ अलि ! कैसे छूटे" द्वारा इसी भाव की व्यंजना की गई है। राधा को अपने प्रेम पर एक अपूर्व विश्वास है। वह एक बार, केवल एक बार, अपने प्रियके दर्शन करना चाहती है, और कोई इच्छा नहीं।

बारक जाइयौ मिलि माधौ ।
को जनै कब छुटि जाइग्रो स्वांस, रहै जिय साधौ ॥

सूर की चतुरता एवं वाग्विदग्धता का सुन्दर उदाहरण उनका 'भ्रमर गीत' है । यहीं वियोग श्रृंगार के दर्शन होते हैं। भगवान कृष्ण उद्धव को केवल शिक्षा दिलाने के लिए ही भेजते हैं । गोपियों के वार्तालाप में भोलापन भी है ग्रौर व्यग्ंय भी । कोई यह नहीं समझ सकता कि गोपियाँ उद्धव का परिहास करतीं हैं ग्रथवा उन्हें मूर्ख बनाने का प्रयास करती हैं । सभी तरह की गोपिकायें हैं—कुछ गम्भीर, कुछ हँसोड़ ग्रौर कुछ उद्धव को बनाने वाली; कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें उद्धव की दशा पर तरस ग्राता है । वे निरन्तर भगवान के प्रेम में डूबी रहती हैं । उन्हीं की याद किया करती हैं—

एहि बिरियाँ बन ते ब्रज ग्रावते ।
दूरहि ते वे बेनु ग्रधर धर बारम्बार बजावते ।

कुछ उनके योग का उपहास उड़ाती हुई कहती हैं ।

ग्रायो घोस बड़ौ व्यापारी ।
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में ग्राय उतारी ।

कुछ गोपिकायें विरह-रुदन में भी उद्धव से हँसी करती हैं ग्रौर उनकी सारी ब्रह्मविद्या की धज्जियाँ उड़ा देती हैं ।

''ऊधौ भली करी तुम ग्राये ।
ये बातें कहि कहि या दुख में, ब्रज के लोग हँसाये ।"
"ऊधौ जाहु तुम्हें हम जाने ।
श्याम तुम्हें ह्याँ नाहि पठायो, तुम हौ ग्रन्त भुलाने ।''

इस प्रकार सूर के काव्य में एक ग्रोर सहृदयता ग्रौर भावुकता है तो दूसरी ग्रोर चतुरता एवं वाग्विदग्धता भी इतनी है कि वह व्यंग पूर्ण ढङ्ग से बहुत कुछ कह जाते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर की कविता ग्रपनी गम्भीरता

एवं सरसता के कारण जनसाधारण की कविता हो गई है। कुछ विद्वानों का मत है कि सूर का क्षेत्र सीमित था, वह वात्सल्य और शृंगार से अधिक आगे नहीं जा सकते हैं। निःसंदेह सूर वात्सल्य और शृंगार रसों के आचार्य कहे जा सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सूर का क्षेत्र संकुचित था। प्रश्न यह है कि जो कुछ भी सूर ने लिखा है क्या उसमें कुछ शेष रह गया है ? इसे तो सभी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि सूर ने इतना लिख दिया है कि अन्य कवियों के लिये कुछ शेष छोड़ा ही नहीं है। वह शृंगार और वात्सल्य की बहुत गहराई तक घुस गये हैं और खोज खोज कर उन्होंने वह रत्न एकत्रित कर दिये हैं कि यदि अन्य कवि कुछ खोजने का प्रयास करें तो उन्हें सीप और घोंघे ही हाथ लगेंगे। भले ही अन्य कवियों का क्षेत्र बढ़ा हुआ रहा हो किन्तु यदि हम सूर के वात्सल्य और शृंगार रस से उनके वात्सल्य और शृंगार की तुलना करें तो वे सूर के सम्मुख तनिक भी ठहर न सकेंगे।

इसीलिये किसी कवि ने कहा है।

कविता करता तीन हैं, तुलसी, केशव, सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला विनत मजूर॥

नंददास

जीवन परिचय—हमारे अनेक भक्त कवियों की भाँति नंद
ने भी अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। यही नहीं उनके जीव
विवरण की प्रामाणिक सामग्री भी अधिक उपलब्ध नहीं है। इतना
निश्चय है कि वह ब्राह्मण थे और रामपुर के रहने वाले थे।
प्रमाणों के आधार पर उनका जन्म संवत् १६२४ विक्रमी माना जा
है। इसके अनुसार वह सूर और तुलसी के समकालीन ठहरते हैं।

जन्म तिथि के समान उनकी मृत्यु तिथि भी अनुमानित ही है।
श्रुति है कि उनकी मृत्यु अकबर और बीरबल के समय में हुई। बीरब
की मृत्यु सम्वत् १६४८ वि० में हुई अतएव नन्ददास की मृत्यु इससे
हुई होगी। वार्ता में यह भी उद्धृत है कि उनकी मृत्यु के अवसर
गोसाईं विट्ठलनाथ जीवित थे। गोस्वामी जी का देहावसान सम्
१६४२ वि० में हुआ था। इस प्रकार नन्ददास का देहावसान सम्
१६४२ से पूर्व ही हुआ होगा। बाबा दीनदयाल जी उनका मृत्यु सं
१६४० वि० मानते हैं।

रचनाएँ—नन्ददास के दो ग्रन्थ रासपंचाध्यायी और भँवरगी
अधिक प्रसिद्ध हैं। नवीन खोज के अनुसार नन्ददास के ३० ग्रन्थों
पता लगा है। उनमें १६ ग्रन्थ प्राप्त भी हो चुके हैं—अनेकार्थ भाष
अनेकार्थ मंजरी, जोगलीला, दसमस्कन्ध भागवत, नामचिन्तामणि
माला, नाम मंजरी, नासिकेतपुराण भाषा, पंचाध्यायी, विरहमंजरी
भँवरगीत, रस मंजरी, राजनीति हितोपदेश, रुक्मिनी मंगल, स्याम
सगाई, मान मंजरी, नाम माला।

रासपंचाध्यायी नन्ददास की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसमें श्रीकृष्ण

लीला रोला छन्द में वर्णित है। इसमें पाँच अध्याय हैं। इसके कथानक का आधार भागवत ही है। इतना अवश्य है कि कुछेक स्थलों पर कथानक में कुछ रूपान्तर हो गया है। इसमें कवि की मौलिकता झलकती हैं।

भँवरगीत उनकी दूसरी उत्कृष्ट रचना है। इसका आकार तो अत्यंत छोटा है किन्तु उसका महत्व सूरदास के भ्रमर गीत से कम नहीं है। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन परिपाटी के अनुसार लिखी जाने वाली भ्रमरगीत की प्रथा को अपनाया। इसके नामकरण में उन्होंने विशेष ध्यान रक्खा है। उन्होंने रेफ की परुषता को हटाकर उसे श्रुति-माधुर्य गुण से भर कर 'भँवर गीत' नाम रक्खा। यह काव्य माधुर्य रस से परिपूर्ण है। इसमें उन्होंने गोपियों की विरह-दशा का कारुणिक चित्र खींचा है। इसमें ब्रह्म, माया और जीव की बड़ी ही सुन्दर विवेचना की गई है। हिंदी साहित्य में सत्यनारायण 'कविरत्न', सूरदास, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि कवियों ने भी भ्रमरगीत लिखे, किन्तु नन्ददास का भ्रमरगीत इन सबसे भिन्न है। इसमें कवि ने कथोपकथन प्रणाली द्वारा भाव-व्यंजना करके काव्य का सर्वश्रेष्ठ अंग बना दिया है।

काव्य साधना—नन्ददास भक्त कवि थे। उनका सम्पूर्ण काव्य इसी भक्ति-रस से परिपूर्ण है। वह रसिक भी थे। उनकी उक्तियों की सरलता तर्कवाद, भक्तितत्व, रस-तत्व की उत्कृष्टता, सर्वथा प्रशंसनीय है। उनका काव्यगीत माधुर्य से परिपूर्ण उनके सम्बन्ध में ध्रुवदास ने कहा है :—

'नन्ददास-जो कछु कह्यो रागरंग सौं पागि।
अच्छर सरस सनेहमय, सुनत स्रवन उठ जागि॥
रसिक दशा अद्भुत हुती कर कवित्त सुढार।
सत प्रेम की सुनत ही छुटत मोह जलधार॥
बावरो रस में फिरै, खोजत नेह की बात।
आछे रस के बचन सुनि बेगि विवश ह्वै जात॥

उन्होंने रास पंचाध्यायी में भक्तिमय-रहस्यवाद का परिचय दि
है। इसमें कवि ने शब्दों को इस प्रकार सुगुंफित किया है कि
नन्ददास का रीति शास्त्र विषयक परिज्ञान भी हो जाता है। इसमें
ने कृष्ण-गोपी प्रेम का विस्तृत वर्णन किया है। इसमें आध्यात्मिक
के साथ शृङ्गार रस की प्रधानता है और अलंकारों की भी सु
योजना है। उनके अलंकार कहीं पर भी भार रूप नहीं हुए हैं। वे
पर भी भावाभिव्यक्ति में बाधक नहीं हुए हैं। इसीसे उसमें अपूर्व सर
एवं माधुर्य रस का समावेश है। उन्होंने केशव के समान अपनी प्रति
पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं किया है, अपितु भाषा को अपने भ
की अनुगामिनी बनाया है। इसीसे उनके भावों को हृदयंगम करने
किसी भी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता :—

"प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सो पारहिं जैये।
प्रेम बंध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये॥
एकै निश्चय प्रेम को जीवनमुक्त रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जिह तैं मिलैं गोपाल॥"

(भंवरगीत)

"ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरै, विषय वासना रोग॥"

"रस मंजरी" में उन्होंने यही स्पष्ट किया है कि संसार में जो
रस है, जो कुछ सौन्दर्य है, वह सब प्रभु का ही है।

"रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग मैं आहि।
सो सब गिरधर देव कौ निधरक बरनौं ताहि॥"

रीतिशास्त्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस पद्धति
अनुसार वे रीति-कालीन कवियों की भाँति संक्षेप में नायिका
का भी वर्णन कर गये हैं।

उन्होंने गोपी-प्रेम के संयोग और वियोग का ही विशद वर्णन कि
है। अन्य रसों का उनकी रचनाओं में अभाव सा है। उनके विप्र

शृंगार में सूर जैसी ही अभिव्यंजना है। रूप मञ्जरी, रस मंजरी, भंवर-गीत, रुक्मिनीमंगल, रास पंचाध्यायी आदि रचनायें विप्रलम्भ के इस मार्मिक चित्रण से ओत-प्रोत हैं।

"सुनि मोहन सन्देश, रूप सुमिरन ह्वै आयौ।
पुलकित आनन सकल अंग आवेश जनायौ॥
विह्वल ह्वै धरनी परी, ब्रज बनिता मुरझाय।
दै जल छींट प्रबोधहीं, ऊधौ बात बनाय॥"

(भंवरगीत)

"निस प्रान तियतन तैं, द्विज के वचननि आये।
जब कह्यो "श्री हरि आये", मनों बहुर की फिर आये॥"

इस प्रकार उन्होंने विरह के सिद्धान्तों का भी निरूपण किया है और विरहिणी ब्रज बालाओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियों का भी अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन किया है।

भाषा शैली—नन्ददास की शैली माधुर्य और प्रसाद गुण से पूर्ण है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि उनकी कोमलकान्त पदावली संयुक्ताक्षरों से मुक्त है।

"अर्थ अमित अति आखर थोरे।"

उनकी भाषा परिष्कृत ब्रज-भाषा है। अपने भावों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने तत्र तत्र संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग तो किया है, किन्तु उसकी बोधगम्यता का सर्वत्र ही ध्यान रक्खा हैं। इसीसे उनकी सभी रचनायें अत्यन्त सरस हैं। रास पंचाध्यायी के विषय में तो उन्होंने स्वयं लिखा है:—

"यह उज्ज्वल रसमाला, कोटि जतन करि पोई।
सावधान ह्वै पहिरो, इहि तोरो मति कोइ॥"

एक उदाहरण देख लीजिए।

सघन कुञ्ज में चन्द्रमा की पतली किरण झिलमिलाती हुई कांपं हुई गिर रहीं हैं—

> "फटिक-छटा सी किरन, कुञ्ज-रंध्रनि जब आई।
> मानहु वितन-वितान, सुदेश तनाव-तनाई।
> "मन्द मन्द चलि चारु, चन्द्रमा अस छवि पाई।
> उझकत है जनु रमा रमन, प्रिय कौतुक आइ॥"

उन्होंने अपनी पदावली अधिक सरस बनाने के लिए कोमल औ ह्लस्व वर्गों का ही कलापूर्ण प्रयोग किया है। इस प्रकार हम कह सक हैं कि उन्होंने जयदेव की श्रुति-मधुर पदावली काअ नुसरण किया है इतना अवश्य है कि जयदेव ने संस्कृत में लिखा और नन्ददास ब्रजभाषा में।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि नन्ददास ने दो प्रक की शैलियों को अपनाया। एक अलंकार से युक्त हैऔर दूसरी अलंका से मुक्त है। इनके विषय में एक समालोचक ने लिखा है:—

" अनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, आदि अ लङ्कारों से लदी हुई जिस आदर्श साहित्यिक भाषा की कवि ने स की है, उसमें सरस प्रवाह है, अद्भुत संगीत है और हृदय पर करने की अपूर्व क्षमता है।" किन्तु माधुर्य रस की पयस्विनी धारा स ही प्रवाहित है जो श्रोता पाठकों को सहसा ही अपनी ओर आकृष्ट लेती है और वे उसी प्रवाह में बहे चले जाते हैं। उन्हें अपने ' मन की सुध' भी नहीं रहती है। इसीसे किसी समालोचक ने सत्य क है कि "अन्य कवि गढ़िया नन्दराम जड़िया।" अर्थात नन्ददास ने कुछ भी लिखा वह नगसा जड़ गया है। भँवरगीत का एक उदाह देख लीजिए:—

> "जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते,
> बीज बिना तरु जमै केहि तुम कहौ कहाँ ते।
> वा गुन की परछाँह री माया दर्पन बीच,

गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच ।।
सखा सुन स्याम के ।''

नन्ददास ने यत्र-तत्र कल्पना का भी आश्रय लिया है, इससे उनका काव्य और भी रमणीक हो गया है। इस कला में भी उनकी पूर्ण मौलिकता झलकती हैं।

"ज्ञान जोग सब कर्म तें प्रेम परे है साँच।
हौं यहि पटतर देत हौं, हीरा आगे काँच ।।

उनकी भाषा की सादगी का एक उदाहरण और देख लीजिए—

"कहन स्याम-संदेस एक मैं तुम पै आयौ,
कहन सबैं संदेस कहूं अवसर नहिं पायौ।
सोचत मन में रह्यौं कब पाऊँ इक ठाउँ,
कहि संदेश नंदलाल कौ, बहुरि मधुपुरी जाऊँ ।।
सुनो ब्रजनागरी ।।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने अपनी भाषा के माधुर्य को बढ़ाने के लिए ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं का भी यथा स्थान समुचित प्रयोग किया है। मुहाविरों के समुचित प्रयोग से भाषा की अभिव्यंजन शक्ति और भी अधिक बढ़ गयी है।

"घर आयो नाग न पूजहीं, बाँवी पूजन जाहिं।"
"कहा हिय लौन लगायो।"
"फाटि हियरो चल्यौ, चोर चित लै गये ।।"

इन्हीं सब विशेषताओं के कारण नन्ददास की रचनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गई हैं। हिंदी साहित्य में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है। वह अष्टछाप के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। कहा तो यह जाता है कि सूर के उपरान्त नन्ददास का ही स्थान है।

मीराबाई

जीवन परिचय—मीराबाई मेवाड़ के राठौर श्री रतनसिंह
सुपुत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ विक्रमी के लगभग हुआ
उनके हृदय में भगवद्भक्ति तो बचपन से ही जागृत हो गयी थी।
के परिवर्तन एवं शरीरायु के क्रमिक विकास के साथ उसमें भी उत्त
त्तर वृद्धि ही होती गयी। आगे चलकर इसी भावना ने उन्हें भग
की अनन्य भक्तिनी बना दिया। उदयपुर के कुमार श्री भोजराजजी
उनका पाणिग्रहण संस्कार हुआ था, किंतु दुर्भाग्य से वह युग्म थोड़ी
अवस्था में एक दूसरे से सदा के लिए बिछुड़ गया। राणा के दि
हो जाने से मीरा को आजीवन वैधव्य दुख भोगना पड़ा। पति
आत्मा के परमात्मा में लीन हो जाने के कारण मीरा भी उसी
नन्दी आत्मा से साक्षात्कार करने का प्रयास करने लगी। वह भ
भक्ति के अगाध प्रवाह में स्नान करने लगी। इस भक्तिरस में नि
होकर वह मंदिर में श्रीकृष्ण की मूर्ति के सम्मुख नाचा-गाया भी क
थीं। उनका यह कार्य घरवालों को अच्छा न लगा। उन्होंने इ
विरोध किया, किन्तु मीरा—जो भगवत्प्रेम में निमग्न हो रही
जिसने भगवान की भक्ति के ही लिए संसार के सभी भोग-विलासों
सर्वथा परित्याग कर दिया था, घर वालों की भगवद्भक्ति वि
भर्त्सनाओं को कब सहन कर सकती थीं? उन्होंने विवश होकर घर
छोड़ दिया और वृन्दावन तथा द्वारिका के मन्दिरों में घूम-घूम
भगवद्भक्ति में अपना समय बिताने लगीं।

इनके विषय में एक किंवदंती भी है। मेवाड़ के तत्कालीन रा
ब्राह्मणों द्वारा मीराबाई के पास निमंत्रण पत्र भेजकर पुनः मेवाड़

के लिए उनसे प्रार्थना की। मीराबाई ने इस प्रार्थना को स्वीकार तो कर लिया किंतु मेवाड़ जाने से पूर्व श्री रणछोर जी से आज्ञा लेने के लिए वह मंदिर में गयीं। कहा जाता है कि वह उसी समय उनकी मूर्ति में समा गयीं। यह घटना सम्वत् १६३० विक्रमी के लगभग की सुनी जाती है।

रचनाएँ—मीराबाई भगवान श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका थीं। "मेरो तो गिरधर गुपाल, दूसरो न कोई।" अतएव उनकी सभी रचनायें श्रीकृष्ण की भक्ति से ही सम्बन्धित हैं। उन्होंने प्रबन्ध काव्य आदि लिखने के उद्देश्य से कोई रचना नहीं की। वह तो भगवान की भक्ति में तल्लीन रहा करती थीं और उन्हीं की भाव-लहरी में अनेक पद बनाकर गाया करती थीं। इस प्रकार उनकी कविता केवल गये पदों का संग्रह मात्र है जिनको उन्होंने भगवद्भक्ति में निमग्न होकर बनाया और गाया। उन्होंने गुजराती, राजस्थानी तथा हिंदी में अपनी पद-रचना की।

काव्य-साधना—मीराबाई भगवान की अनन्य भक्तिन थीं। उनकी भक्ति भावना भी सूर और तुलसी की भाँति उच्चकोटि की थी। किन्तु उनकी भक्ति उन दोनों से ही भिन्न थी। सूर की भक्ति सख्यभाव की थी और तुलसी की दास्य-भाव की किन्तु मीरा ने भगवान को पति रूप में,स्वामी रूप में माना। वह उनकी मूर्ति के सम्मुख नाचा गाया भी करती थीं। इसके लिए उन्हें भीड की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती थी। इस प्रकार उनकी भक्ति में जोवन की सी तन्मयता थी, जो सभी वर्ग के प्राणियों को अपने वशीभूत किए रहती है। वह संसार की लज्जा नहीं करती थी। इसके लिए तो वह स्वयं कहा करती थीं—

"मेरो तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥"

अतएव संसारी व्यक्तियों से लज्जा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इस भक्ति के लिए उन्होंने—

"भाई छोड़या बन्धु छोड़या-छोड़या सगा सोई।
साधु संग बैठ बैठ लोक लाज खोई॥"

उसके बचपन के गिरधर गोपाल सदा उसके साथ रहे। यहां तक कि उसकी सारी क्रियायें भी उन्हीं से युक्त हो गयीं।

"जहँ जहँ पाँव धरूँ धरणी पर, तहँ तहँ निरत करूँरी।"

वह अपने आप को कृष्ण की गोपिका समझती थीं और प्रत्येक प्रकार से उनकी परिचर्या के लिए तत्पर रहा करती थीं।

"नातो नाम को मोसो तनक न तोड्यो जाय।
पानी ज्यूँ पीली पड़ी रे लोक कहैं पिंड रोग॥
छाने लाँघड़ मैं किया रे राम मिलण के जोग।"

\+ \+ \+

"म्हारो नातो नाव को रे, और न नातो कोइ।
मीरा व्याकुल विरहिणी रे, पिया दरशन दीवो मोइ॥"

"मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे।
"मिल बिछुरन मत कीजै॥"

इतनी पंक्तियों से मीरा की भक्ति-भावना स्पष्ट हो जाती है। यहीं पर यह भी ध्यान रख लेना चाहिए कि मीराबाई ने कवित्व प्रदर्शन के उद्देश्य से एक भी पद की रचना नहीं की। उन्होंने भगवत भक्ति में पद बनाये और गाये। इसीसे उनके पदों में चमत्कार-प्रदर्शन भी नहीं है। वे सरल, सुबोध और भावमय हैं। अपनी भक्ति को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का आश्रय अवश्य लिया है, किन्तु यह अलंकार ऐसे हैं जो भावाभिव्यक्ति में प्रकृत्या ही आ जाते हैं, उनके लाने के लिए मानसिक परिश्रम की भी विशेष आवश्यकता नहीं होती है।

मीरा के सभी पदों का सम्बन्ध उसके प्रियतम से है जो अखिल सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता है। इसी से उसकी पदावली में रहस्यमयी भावना भी आ जाती है। हमारे प्राचीन कवियों में जायसी और

कबीर ने भी इसी रहस्यवाद की कल्पना की थी, किन्तु मीरा का रहस्यवाद उनके रहस्यवाद की कोटि का होते हुए भी अपनी विशिष्टता रखता है। वस्तुतः मीरा हीं एक ऐसी भक्तिन कवियित्री है जिसे उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो गया था। कबीर का रहस्यवाद उपदेशात्मक ही था, उन्होंने उसकी अनुभूति भी की थी, किन्तु वियोग जन्य दुख से संतप्त होकर नहीं। जायसी ने प्रेम-वर्णन किया था, किन्तु स्वयं उसमें तन्मय होकर नहीं, किन्त मीरा ने अपने आपको उसमें मिला दिया था। कबीर आदि के उपदेशों को देख कर वह कहा करती थी :—

"जो मैं ऐसा जानती रे, प्रीति किए दुख होय।
नगर ढिढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोय॥"
"तुम देखे बिन कल न परत है तलफ तलफ जिय जासी।
तोरे खातिर जोगिन हूँगी, करवट लूँगी काशी॥"

ऐसी उक्तियाँ मीरा के अन्तस्तल से निकली हैं। वे इतनी भावपूर्ण एवं आकर्षक हैं कि नागमती और पद्मावती की उक्तियाँ भी उनकी समता नहीं कर सकतीं हैं। उनमें भक्ति भाव की ऐसी सरस अनुभूति है, उनका ईश्वरी प्रेम सांसारिक आधार लिए हुए है किन्तु फिर भी यह प्रेम उज्ज्वल है, प्रांजल है, उसमें साँसारिकता लेशमात्र के लिए भी नहीं है।

मीरा की रचनाएँ श्रृङ्गार रस से ओतप्रोत हैं। उनका श्रृंगार भावना का श्रृंगार है। इतना अवश्य है कि उसमें संयोग और वियोग दोनों का ही सन्निवेश है किन्तु उसमें वासना की गन्ध भी नहीं आने पाई है। वह परम पवित्र एवं प्रांजल श्रृंगार है जो भक्तों का, सच्चे अनन्य भक्तों का—सर्वस्व है। उनकी कविता का विरह साँसारिक की अपेक्षा आध्यात्मिक है।

"रैन अँधेरी विरह घेरी, तारा गिणत निसि जात।
लै कटारी कण्ठ चीरूँ, करूँगी अपघात॥

पाटन खोल्या, मुखौ न बोल्या साँझ लागै परभात।
अबोलना में अवधो बीती, काहे की कुशलात ॥"

तथा—

"मीरा की प्रभु पीर मिटैगी, जब वैद सामलिया होय।"

कितनी सुन्दर एवं भावपूर्ण उक्ति हैं।

काव्यगत भावनाओं की दृष्टि से मीरा के दो दृष्टिकोण माने जा
हैं। सर्वप्रथम वह श्रीकृष्ण की भक्ति माधुर्य रूप में करती हैं।
श्रीकृष्ण को अपना पति मानती हैं।

"अब तो मेहर करो मुझ ऊपर, चित दे सुणो हमारी।
मीरा के प्रभु मिलन्यो माधो, जनम जनम की कँवारी॥
लगी दरसन की तारी."

इस प्रकार के पदों में उन्होंने अपने इष्टदेव का वर्णन किया है औ
अपनी दयनीय दशा का वर्णन करके प्रणय यचाना की है। इसके सा
ही उन्होंने सन्त कवियों की परम्परा के आधार पर भी कुछ पदों
रचना की हैं। इनमें अलङ्कारों की कुछ अधिकता है, किन्तु ऐसे पदों
संख्या अधिक नहीं है।

"इन नैनन मेरा साहिब बसता, उरती पलघ न नाउँरी।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखो, तहाँ से झाँकी लगाउँरी॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाउँरी।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बार बार बलि जाऊँरी॥"

मीरा के सभी पद गेय हैं। उनमें राग रागनियों का भी अच्छ
प्रयोग हुआ है। इसी से उनकी उत्कृष्टता और भी अधिक बढ़ जा
है। उनकी सरसता, एवं मनोहारिता साधारण से साधारण पाठक
हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह उनकी अपनी वि
षता है।

भाषा और शैली—मीराबाई की भाषा मिश्रित ब्रजभाषा है
वह एक स्थान पर न रहकर इधर-उधर भ्रमण करती रहीं औ

श्रीकृष्ण को भक्ति में पद बनाकर गाती रहीं। उनके जीवन का प्रारम्भिक काल राजस्थान में बीता इससे उनकी कविता में राजस्थानी शब्दों की प्रचुरता दिखलाई पड़ती है किन्तु ब्रज-भूमि में आकर उन्होंने जिस भाषा को अपनाया वह अधिक अंशों में परिष्कृत भाषा है।

"बसौ मोरे नयनन में नन्दलाल।"

उन्होंने अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए शब्दों के रूपों में भी यथोचित परिवर्तन किया है। कहीं-कहीं तो यह परिवर्तन राजस्थानी का रूप सा झलका देता है।

"खिण मन्दिर खिण आंगण रे खिण खिण ठाड़ीं होय।
घायल ज्यूँ घूसूँ सदा री, म्हारी विथा न बूझै कोइ॥"
"बावल बेद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बांह।
मूरिख बेद मरम नहिं जाणै, करक कलेजा माहिं॥"
"चाकरी मैं दरसन पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगत जागीरी पाऊँ, तीनों बाते सरसी॥"

इस प्रकर हम संक्षेप में कह सकते हैं कि मीरा ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए जिस प्रकार की भाषा को अपनाया वह उनके अभीष्ट साधनार्थ पूर्ण सफल थी। इतना अवश्य है कि ब्रज के क्षेत्र के एवं ब्रजभाषा काव्य के समय की होते हुए भी उनकी भाषा शुद्ध परिष्कृत ब्रज भाषा नहीं है। इसी से उसमें शुद्ध साहित्यिकता नहीं है। उन्होंने व्याकरण सम्बन्धी प्रयोगों का भी समुचित ध्यान रखा है तथा अन्य खटकने वाले दोषों से भी अपनी पदावली को मुक्त रखने का सफल प्रयास किया, फिर भी उसमें तत्सम्बन्धी जो दोष आगए हैं उनका मूल कारण यही था कि मीरा भगवान् की अनन्य भक्तिन थीं, उन्होंने भगवान की आराधना के लिए ही इस प्रकार की पदावली की सृष्टि की। भला भक्त कवियों को इतना समय कहाँ कि जो सभी प्रकार की कसौटी पर अपने प्रत्येक पद तथा उनके शब्द को कसते और काव्य के उस मृग-

मरीचिका जाल में फँसते । उदाहरण स्वरूप दो-चार पंक्तियाँ और देख लीजिए—

"म्हे तो सरणे राम के, भल निन्दो संसार।
माला म्हारे देवड़ी, सील विरत सिंगार॥
अबकै किरपा कीजियो, हूँ तो फिर बाँधू तलवार।
रथां बैल जुताय कै, ऊँटा कसियो भार॥"
"संसारी निन्दा करै रे, दुखियो सब संसार।
कुल सारो ही लाजसी, मीरा थै जो भया जी ख्वार॥
"सदकै करूँ जी शरीर, जुगै जुग वारणाँ।
छोड़ी कुल की लाज साहिब तेरे कारणैं॥
"मीरा के प्रभु गिरधर नागर 'चेरि भई बिन मोलैं
कृष्णरूप छकी हुँ ग्वालिन, औरहि औरैं बोलैं॥"

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि भगवदभक्ति में निमग्न होकर भक्ति रस की प्रधान कवियित्री मीराबाई ने अपने भावानुकूल जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह उनकी महत्ता की पूर्ण रूपेण साधिका है, और काव्य के क्षेत्र में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान निश्चित कर देती है। वह हमारे भक्त कवियों में सर्व शिरोमणि हैं और काव्य के क्षेत्र में भी किसी से पीछे नहीं हैं। उनकी पदावली में उसी हृदय पक्ष का समावेश कर उन्होंने हिन्दी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

रसखान

जीवन-परिचय—भक्ति-काल के अन्य कवियों की भाँति रसखान का भी जन्म सम्वत् अनिश्चित सा है। कहा यह जाता है कि उनका जन्म सम्वत् १६१५ वि० के लगभग हुआ था। दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से प्रकट होता है कि रसखान दिल्ली के राजवंश के पठान थे और सैयद इब्राहीम उनका नाम था। बाल्यावस्था में वैष्णवों के उपदेश से उनका मन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी की भक्ति में लग गया। बस इसी समय से उनके हृदय में विराग उत्पन्न हो गया, वह भगवान श्रीकृष्ण की आराधना करने लगे और उन्हीं के गुणगान में भजन गाने लगे। जनश्रुति है कि एक बार वह श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ श्रीनाथ जी के मन्दिर में जा रहे थे, किन्तु मुसलमान होने के कारण उन्हें बीच ही में रोक दिया गया। इससे उन्हें अत्यधिक दुख हुआ। उन्होंने अनशन प्रारम्भ कर दिया और वहीं गोविन्द कुण्ड पर बैठ गये। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी ऐसी अगाध भक्ति देखकर श्री बिट्ठलनाथ जी ने उन्हें अपना शिष्य बना लिया। उस समय से वह भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति में ही अपना समय बिताने लगे और जीवन की अन्तिम घड़ियों तक उसी में तल्लीन रहे। श्रीकृष्ण की भक्ति में अत्यधिक तल्लीन रहने के कारण वह रसखान कहलाये और अन्त तक इसी नाम से प्रख्यात रहे। उनको अपना यह नाम इतना अधिक प्रिय था कि उन्होंने इसकी व्याख्या स्वयं ही करदी है—

"बैन वही उनको गुन गाइ और कान वही उन बैन सो सानी।
हाथ वही उन गात सरें अरु पांय वही जु वही अनुजानी॥
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यों रसखान वही रसखान जु है रसखान सो है रसखानी॥"

रसखान ने अन्तिम चरण में स्पष्ट कर दिया कि सचमुच वही रस की खान है जो वस्तुतः रस की खानि है और रसखान भी तभी रसखान है जब वह भी वही रसखानि हो जाय जो सचमुच रसखानि है। उनका देहावसान सम्वत् १६८५ वि० में हुआ।

रचनाएं—रसखान के दो ग्रन्थ ही प्राप्य हैं, 'प्रेमवाटिका', तथा 'सुजान-रसखान'। 'प्रेमवाटिका' उनकी प्रथम रचना है। यह सम्वत् १६७१ वि० में लिखी गयी थी।

काव्य-साधना—रसखान रस से परिपूर्ण थे। इसीसे उनकी कविता भी तद्वत् रस से परिपूर्ण है। वह कृष्ण के भक्त थे। इसी से उनकी सभी रचनाएँ कृष्ण-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने केवल कविता, सवैया, दोहा और सोरठों में अपनी कविता की है। वह भगवान की भक्ति में ही भाव-विभोर रहा करते थे। इसी से अधिक लिखने के लिए उन्हें अवकाश न मिला। वह सौंदर्योपासक तो थे, किन्तु उनकी यह सौंदर्योपासना श्रीकृष्ण की भक्ति में ही समा गयी। वास्तव में यही उन्हें अभीष्ट भी था।

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँपुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥
'रसखान' कबौं इन आँखिनतें व्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर बारौं॥"

इस पद से ध्वनित होता है कि रसखान सचमुच 'करील की कुंजों' को श्रेष्ठ मानते थे। वह लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की ओर आकृष्ट हो गये थे। वह कहते हैं—

"आनन्द अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द, कै ब्रह्मानन्द बखान।
"जेहि पाये बैकुण्ठ अरु हरिहूँ की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध, सुभ, सरस सुप्रेम कहाहि॥"

वह श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनमें श्रीकृष्ण के प्रति अगाध भक्ति थी। ब्रज श्रीकृष्ण की जन्मभूमि है। इसी से वह भी उन्हें सबसे अधिक प्रिय लगी—

"मानुष हौं तो वही 'रसखान' फिरौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयौ कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिन्दी कूल कदंब की डारन॥"

तथा

"कोटिक हूँ कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर बारौं"

उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम का भी अति सुन्दर वर्णन किया है।

"दौऊ परैं पैया दोऊ लेत हैं बलैयां,
उन्हें भूलि गई गैयाँ इन्हें गागरि उठाइवो।"

वस्तुतः जीव जब ऐसे ही प्रेम में इसी प्रकार भाव-विभोर हो जाता है, तब उसे संसार की तनिक भी चिंता नहीं रहती है, उसकी आत्मा को परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है। बस इससे अधिक उसे चाहिए ही क्या ?

हिन्दी कविता में काग का भी बड़ा महात्म्य है। लोग उसका शकुन मानते हैं। रसखान उसे बड़ा ही भाग्यशाली बतलाते हुए कहते हैं—

"काग के भाग कहा कहिए, हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी।'

उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रेम को ही अपनी कविता का अंग बनाया है। इस प्रेम-वर्णन में श्रीकृष्ण का रूप वर्णन ही प्रधान है। उन्होंने इसी रूप सौन्दर्य को सुललित पदावली में स्पष्ट करने के लिए ही अधिक प्रयास किया है। उन्होंने काव्य के अन्तरंग 'अंगों' की ओर भी उतना ध्यान ही नहीं दिया। इसी से प्रकृति-वर्णन की ओर भी उनका ध्यान अधिक नहीं गया। उन्होंने ब्रज-भूमि का वर्णन तो किया है किन्तु वह अत्यन्त साधारण है। फागुन का वर्णन भी कुछ अधिक महत्वपूर्ण नहीं है :—

"आई खेलि होरी ब्रजगोरी वा किसोरी संग,
अंग अंग रंगनि अनंग सरसाइगो।
कुंकुम की मार वापै रंगनि उछार उड़ें,
बुक्का औ गुलाल लाल लाल बरसाइगो॥
छोड़ें पिचकारिन घमारिन बिझइ छोड़ै,
तोड़ै हियहार भार रंग बरसाइगो।
रसिक सलोनों रिझवार रसखान आज,
फागुन में औगुन अनेक दरसाइगो॥"

भाषा और शैली—रसखान ब्रजभाषा के प्रमुख कवि थे। उन्होंने यथा समय शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया। उन्होंने सरल से सरल शब्दों में अपनी भावाभिव्यक्ति की है। इसके लिए उन्होंने कहीं पर व्यर्थ का शब्द-जाल नहीं रचा है। इसी से उनकी भाषा में न क्लिष्टता है और न लाक्षणिक साहित्यिक भाषा ही। वह तो जन साधारण की बोलचाल की भाषा है जिसको साधारण से साधारण व्यक्ति भी सरलता से समझ सकता है। इसी से उसमें अद्भुत सौन्दर्य है, मधुरता है और सरसता है। उसमें प्रवाह है और एक प्रकार का आकर्षण है जिसमें पाठकों का मन-मयूर सहसा ही आनन्द विभोर हो जाता है।

"भावतौ मोहि बही रसखान सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरली-धर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥"

कितना सुन्दर एवं सरस पद-विन्यास है। उन्होंने कुछ स्थानों पर अजूबा, ताख, सुमार, आदि अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसे—

पियारो, ताहि, अबार, अस, आहि इत्यादि।

उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए यत्र-तत्र शब्दों के रूपों में परिवर्तन किया है। किन्तु ऐसी तोड़ मरोड़ अति स्वल्प है। इसी से उसमें कहीं पर भी प्रखरता नहीं आने पाई है। अतिशयोक्ति पूर्ण एक छन्द देखिए—

"सोई हुती पिय की छतियाँ लगि बाल प्रवीने महा मुद मानै ।
केस खुले छहरैं चहरैं कहरै छवि देखत मैं न श्रमानें ।।
वा रस में रसखान पगी रति रतजगी अँखियाँ नहिं मानें ।
चन्द पै बिम्ब श्रौ बिम्व पै कैरव कैरव पै मुकतान प्रमानें ।।

उत्प्रेक्षा का भीं एक उदाहरण देख लीजिए—

"मोहन जू के वियोग की ताप मलीन महा द्युति देह तिया की।
पंकज सो मुख गो मुरझाय लगें लपटैं विरहागि हिया कीं।।
ऐसे में श्रावत कान्ह सुने तुलसी सो तरी तरकीं अंगिया की ।
यों जगि जोति उठी उनकी उसकाय दई मनौ बाती दिया की।।'

प्रियतम के श्रागमन की सूचना देने का यह श्रति सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनकी भाषा सजीव भाषा है, वह पुकार पुकार कर कहती है कि हम रसखान की सरस- गिरा प्रसूत हैं। वह सर्वथा निर्मल है, स्वच्छ हैं, श्रौर निर्दोष है। इसीसे हम कह सकते है कि उनकी भाषा प्रामाणिक भाषा है। मुहावरों के समुचित प्रयोग ने उसे श्रौर भीं श्रधिक प्रभावोत्पादक बना दिया है।

"बेस चढ़े घर ही रह बैठ, श्रटान चढ़े बदनाम चढ़ैगी ।
हेरति बारहिं बार उतै, यह बावरी बाल कहा धौं करैगी ।
जो कहुँ देखि परयो रसखान तो क्योंहूँ न बीर री धीर धरैगी ।
मानि है काहू की कानि नहीं जब रूप ठगीं हरि रंग ढरैगी ।
याते कहौं सिख मानि भटू वह हेरित तेरेइ पैड़ परैगी ।।"

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि रसखान की भाषा वास्तव में रस की खानि ही है। वह पाठकों के हृदय को श्रपनी श्रोर श्राकर्षित करने में पूर्ण समर्थ है। उसका लावण्य, सरसता, श्रलंकारों की स्वाभाविक योजना, भाव गाम्भीर्य एवं सुमधुर पदलालित्य सर्वथ।

विलोकनीय है। धन्य है ऐसे मुसलमान कविजनों को। उनका ऐ
निस्पृह सेवा-भाव देखकर सुधीवृन्द भी गद्गद् हो जाते हैं। उनके मु
से भी अनायास ही धन्य धन्य की ध्वनि निकल पड़ती है। यदि उन
समान किसी भी युग में एकाधिक कवि होते तो निस्सन्देह उस युग
नाम उन्हीं के नाम से होता। समग्र रूप से इतना तो कहा ही जा सक
है कि हमारे सभी मुसलमान कवियों ने भाषा को सरस और सुमधु
बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्यर्थ का शब्द जाल भी नहीं र
जिससे पाठक-वृन्द सरलतापूर्वक उसके रस का पान कर सकते हैं
उनकी यह सरसता, सरलता, माधुर्य एवं भाव-गाम्भीर्य हिंदी साहित्य
अद्वितीय है।

नरोत्तमदास

जीवन परिचय—हमारे सुप्रसिद्ध कवि नरोत्तमदास जी का भी जन्म-समय अन्धकाराच्छन्न है। शिवसिंह सरोज के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि वह संवत् १६०२ विक्रमी में वर्तमान थे और सीतापुर जिले के बाड़ी गाँव के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनकी आत्मा कब दिवंगत हुई, सर्वथा अज्ञात है। इस विषय में अद्यावधि कुछ भी सामग्री प्राप्त नहीं हुई है।

रचनाएं—कहा जाता है कि नरोत्तमदास जी ने सुदामा-चरित तथा ध्रुव-चरित की रचना की। इसमें सुदामा-चरित सबसे अधिक प्रसिद्ध है और उसीका सबसे अधिक महत्व भी है। उनका ध्रुव-चरित्र अभी तक अप्राप्त है।

काव्य साधना—नरोत्तमदास भक्ति-काल के हमारे प्रमुख कवि हैं। यथातथ्य वर्णन करना उनकी विशेषता है। सुदामा-चरित उनका उत्कृष्ट खण्ड काव्य है। इसकी कथा में प्रवाह है। कवि ने सुदामा की दरिद्रता का यथातथ्य चित्रण किया है। वह सर्वथा स्वाभाविक है। द्वारपाल की उक्ति ही लीजिए—यह चित्रण हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। वह सुदामा की दरिद्रावस्था का चित्रण करता हुआ कहता है—

सीस पगा न झगा तन में, प्रभु जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी, अरु पाँय उपानहु की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देख, रह्यौ चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

इसके छन्द में कवि ने सुदामा का नाम अन्त में रख कर वि
चमत्कार उपस्थित कर दिया है। सुदामा का नाम सुनते ही श्रीकृ
नंगे पैरों दौड़ते हुए बाहर आये और उन्हें अन्दर ले गये। उनकी ऐ
दीन दशा देखकर वह कहने लगते हैं।

"हाय ! महादुख पायो सखा, तुम आये इतै न कितै दिन खोये।

इसमें कवि ने सच्चा अनुराग, सच्ची सहानुभूति, समानता का भा
पारस्परिक आदर सत्कार की भावना और संकट काल में एक दू
की सहयोग की भावना बड़े ही सुन्दर रूप में दिखलाई है। इस ख
काव्य में कवि ने दरिद्रता का जीता-जागता हुआ यथार्थ चित्रण कि
है। हिन्दी साहित्य में ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं हुआ है। सुदामा दीन थ;
वह दाने दाने को भटकता था। बर्तन तक फूटे थे। इससे अधि
दीनावस्था क्या हो सकती है।

'या घर तैं कबहूँ न गयौ पिय टूटो तवा और फूटी कठौती'

'फूटी एक थारी बिन टोंटनी की झारी हुती,
बाँस की पिटारी औ कथारी हुती टाट की॥
बेंटे बिन छुरी औ कमंडल सौ टूक बहौ,
फटे हुते पाये पाटी टूटी एक खाट की॥

भला इससे अधिक दरिद्रता और क्या हो सकती है ! ऐसे दरि
सुदामा की श्रीकृष्ण ने सहायता की और उसे सम्पन्न बनाकर आद
मैत्री का परिचय दिया। उन्होंने उसके दरिद्रता जन्य कष्ट का निवा
रण किया। वह सुदामा की दशा देखकर फूट फूट कर रोने लगे
उनकी अश्रुधारा से ही सुदामा के पैर धुल गये।

"पानी परात को हाथ छुओ नहिं नैनन के जल सों पग धोये॥"

इस प्रकार उन्होंने आदर्श मैत्री का समुज्ज्वल रूप प्रदर्शित कि
है। इस वर्णन में भावों की मार्मिक अभिव्यंजना है जो पाठकों के हृद
को सहसा ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

सिच्छक हों सिगरे जगको तिय ! ताको कहा अब देति है सिक्छा।
जे तप के परलोक सुधारत संपति की तिन के नहिं इच्छा॥
मेरे हिये हरि के पद पंकज बार हजार लैं देखि परिच्छा॥
औरनि को धन चाहिए बाबरि, ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा॥
कोदों सवाँ जुरतो भरिपेट न चाहति हौं दधि दूध मिठौती।
सीत बितीतत जो सिसियात तो हौं हठती पै तुम्हें न हठौती॥
जो जनतीत हितू हरि सो, तुम्हें काहे को द्वारिका ठेल पठौती।
या घर तै कबहू न गयौ पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती॥

इन उद्धरणों से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि कवि साधारण से साधारण शब्दों में भी कितना भाव गांभीर्य भर सकता है। और कथानक में कितनी सजीवता ला सकता है। यही कारण है कि उनका यह लघुकाय खण्ड काव्य भी रस की खान हो गया।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी कवि पूर्ण सफल हुआ है। कवि ने सुदामा का चरित्र तीन परिस्थितियों में चित्रित किया है। सर्वप्रथम वह नीतिज्ञ, संकोची, भाग्यवादी ब्राह्मण है, वह अपने दुखमय जीवन को सुखमय बनाने के लिए दूसरों के सामने हाथ नहीं पसारना चाहते हैं।

"विपति में भूल से मित्र के द्वार न जाइए।"

किन्तु परिस्थितियों के भयंकर प्रताड़न से संतप्त होकर अपनी पत्नी का कहना मानकर वह श्रीकृष्ण की शरण में चले ही जाते हैं।

"हौं कब आवत हुतो, वाही पठ्यो ठेलि।"

घर लौटने पर झोंपड़ी को राज प्रसाद में परिवर्तित देख कर वह आश्चर्यचकित हो जाते हैं और भाग्यवाद को कोरी कल्पना मानने लगते हैं।

कवि ने श्रीकृष्ण का चरित्र भी इसी प्रकार सुन्दरतम रूप में दिखलाया है। उनके व्यवहार से आदर्श मैत्री प्रगट होती है। कवि ने कृष्ण के मित्र सुदामा के प्रति व्यवहार का दिग्दर्शन कराके जन-समुदाय के

सम्मुख आदर्श मैत्री का सुन्दरतम उदाहरण रक्खा है जिसके अनुसर[illegible] से मित्र वर्ग का ही नहीं, अपितु लोक का भी कल्याण हो सकता है। कहाँ झोंपड़ी में रहने वाला अकिंचन सुदामा और कहाँ राज-प्रासादों [illegible] भोग-विलास-निमग्न श्रीकृष्ण। इतने वैभवपूर्ण उच्चासन पर होते हु[ए] भी उन्होंने अपने अकिंचन मित्र सुदामा को भुलाया नहीं। वास्तव [में] सच्ची मित्रता ऐसी ही होनी चाहिए।

आदर्श मित्रता के लिए समानता की भावना नितान्त आवश्य[क] है। सुदामा के प्रति कृष्ण का व्यवहार इसी बात का द्योतक है। उन्हों[ने] अपने मित्र अकिंचन सुदामा का जो आतिथ्य सत्कार किया वह सर्वथ[ा] प्रशस्य है।

> भेटि भली विधि विप्रसों, कर गहि त्रिभुवनराय।
> अन्तःपुर कौं लै गयै, जहाँ न दूसर जाय॥
> मनिमंडित चौकी कनक, ता ऊपर बैठाय।
> पानी धरयौं परात में, पग धौवन को लाय॥
> जिनके चरनन कौ सलिल हरत जगत संताप।
> पाँय सुदामा विप्र के धोवत ते हरि आप॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सुदामा चरित में कवि ने सच्चा अनुराग, सच्ची सहानुभूति, समानता का भाव, घर पर आदर सत्कार, आतिथ्य सत्कार की भावना, संकट काल में मित्र की साहाय्य-भावना आदि सभी बातों को अपनी सुस्पष्ट शब्दावली में भली भाँति सरसाया है। कवि ने विभिन्न परिस्थितियों में अपने को डालकर तद्वत् भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति इतनी सुन्दरता के साथ की है कि पाठक एवं श्रोता श्रवण-मात्र से ही आनन्द विभोर हो जाते हैं।

भाषा शैली—'सुदामा चरित' की भाषा ब्रज-भाषा है। उसमें कहीं कहीं पर बैसबाड़े की भी छटा दिखलाई पड़ती है। वह सर्वत्र ही सरल, सरस, कोमल, परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित है। उसकी भाषा में प्रवाह है। वह प्रसाद गुण से परिपूर्ण है।

"सीस पगा न झगा तन में प्रभु, जानै को आहि बसे केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानहु की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥"

कवि ने कुछ विशेष स्थलों पर शब्दों के रूपों में भी कुछ परिवर्तन किया है, किन्तु ऐसे परिवर्तन अधिक नहीं हैं। "मित्रई, पवित्रई, अगवई" आदि ऐसे हीं बिगड़े रूप हैं। अपने भावों को पूर्ण-रूपेण स्पष्ट करने के लिए कवि ने यत्र-तत्र मुहावरों का भी समुचित प्रयोग किया है। छन्द की तुक मिलाने में भीं कबि को सफलता मिली है। इसके लिए उन्हें छन्दों के रूपों में न्यूनाधिक परिवर्तन भी करना पड़ा हैं। किन्तु यह परिवर्तन कहीं पर भी कर्णकटु नहीं होने पाया है। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ संस्कृत की पदावली प्रयुक्त हुई है। ऐसे स्थलों पर भी कवि ने भाषा को बनाये रखने का ही विशेष प्रयास किया है। उन्होंने यथा सम्भव समास शैली का भी कम ही प्रयोग किया है।

उसमें क्लिष्ट पदावली तो कहीं पर भी नहीं है। सारे काव्य में एक दो छन्द ही ऐसे हैं जिनमें क्लिष्टता दिखाई पड़ती है।

'नौ गुनधारी छः गुन सों, तिगुना मध्ये जाय।
लायौ चापल चौगुनी, आठौ गुनन गवाँय॥'

कवि की कितनी सुन्दर उक्ति है। सुदामा कहते हैं कि मैं नौतार का यज्ञोपवीत धारण करने वाला और ब्राह्मण के छः गुणों सेयुक्त रहने वाला (१—यज्ञ करना, २—यज्ञ कराना, ३—पढ़ना, ४—पढ़ाना, ५—दान देना, ६—दान लेना), तीन गुण वाले क्षत्रियों के पास जाकर अपने ज्ञान के आठों गुणों को (विवेक, वैष्णव, षट् सम्पत्ति, मुमुक्षता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि) खोकर केवल अत्यन्त चपलता लेकर लौटा हूँ अर्थात अपने जातिगत स्वभाव को खोकर केवल अशान्त और उद्विग्न होकर ही आया हूँ।

"हाल्यौ परयो लोकन में, लाल्यो परयो लोकन में।
चाल्यो परयो चक्रन में, चाउर चबात ही ॥"

"सुदामा-चरित्र की सबसे अधिक महत्ता उसकी नाट्यशैली और कथोपकथन प्रणाली है। सुदामा, श्रीकृष्ण और सुदामा की स्त्री इसके प्रमुख पात्र हैं। एक दूसरे के उत्तर प्रत्युत्तर के द्वारा ही कथावस्तु की सम्पूर्ण घटनायें प्रदर्शित की गई हैं। इससे काव्य और भी अधिक सरल और आकर्षक हो गया है। उसे पढ़ते ही ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो उसके पात्र हमारे सम्मुख ही उपस्थित होकर परस्पर बातचीत कर रहे हैं। सुदामा कहते हैं कि—"विपत परे पै द्वार मित्र के न जाइए। तो उनकी पत्नी कहती है:—

नाम लेत चौगुनी गए तें द्वार सौगुनी।
देखत सहस गुनी प्रीति प्रभु मानि हैं॥

सुदामा :—

"जीवन केतौ है जाके लिए हरिसों अब होहुँ कनाउडो जाइकै।"

स्त्रीः—

"हूजै कनावड़ो बार हजार लौ, जो पै हितू दीनदयाल सौ पाइए॥"

यह उनके कथोपकथन की विशेषता है। इसमें उनकी अपनी मौलिकता है। उन्होंने अपनो भावाभिव्यक्ति सरल और सुस्पष्ट शब्दों में की है। उसमें अलंकार विधान भी अधिक नहीं है। कवि ने अपनी भाषा शैली को चमत्कृत बनाने के लिए अलंकार विधान में अधिक खींचा-तानी नहीं की है। वे तो उसके मुख से अनायास ही निस्त्रत हुए हैं। इसी से उनमें अपूर्व सौन्दर्य है। इसी से उसमें सुबोधता तथा सरसता पर्याप्त मात्रा में हैं। उसमें छायावादी कवियों की भाँति कहीं पर भी दुरूहता नहीं है। वस्तुतः सर्वोत्तम रचना में सीधे साधे ढंग से भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए भाषा की सादगी को कविता का गुण माना है। सुदामा-चरित्र इन सब गुणों से परिपूर्ण है।

रीतिकाल

(१७००-१९०० वि०)

भक्ति-काल में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि सुप्रसिद्ध महात्माओं ने चिरस्थाई काव्य ग्रन्थों की रचना करके अपने उच्चकोटि के आदर्शों एवं उनके आधार-भूत सिद्धान्तों का प्रचार किया। इसी युग में व्रजसाहित्य के कुछ कविगण कृष्ण-राधा प्रेम के वर्णन में शृंगारादि रसों का अतिशय प्रयोग करने लगे। उन्होंने उनके विलास तथा गोपियों के विरह का भी अतिरंजित वर्णन किया। साहित्य की दृष्टि से सूर का संयोग शृंगार और वियोग शृंगार सर्वोत्कृष्ट है। इधर कुछ कवि गण अपनी कविता में कला का भी अधिक प्रयोग करके उसे चमत्कार-पूर्ण बनाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने रस अलंकारादिकों का भी सुन्दर वर्णन किया। उधर भक्ति के प्रभाव में कुछ कवियों की भाषा में साहित्यिक दोष आने लगे। भक्त कवियों को तो अपने भाव प्रगट करने थे। उन्हें भाषा की विशेष चिन्ता न थी। अतएव इसमें भी कुछ सुधार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतएव कुछ विद्वान आगे बढ़े और कविता के आधार भूत सिद्धान्तों का निरूपण करने लगे। कुछ कवि रसालंकार निरूपण करके नायक-नायिका के भेद-प्रभेद बतलाकर उनका साँगोपाँग वर्णन करने लगे। इसी से इस काल को रीतिकाल कहा जाता है।

इस युग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस समय शृंगारी भावना की ही प्रधानता रही। काव्य का सम्बन्ध जीवन से रहा तो, किन्तु लौकिक हास-विलास-पूर्ण वर्णन के कारण वह मर्यादा हीन हो गया। उस युग के अधिकांश कवि रसादि निरूपण के लिए शृंगारी ग्रन्थों की रचना करने लगे। आगे चलकर कुछ कवि तो केवल

नायक नायिकाओं का वर्णन कर लेना-मात्र अपना कर्तव्य सम
लगे। इसी युग में श्रृंगार रस के आलम्बन और उद्दीपन के लिए
ही सरस उदाहरणों का निरूपण किया गया। इस निरूपण में क
कहीं इतनी अधिक अश्लीलता बढ़ गयी कि वह सभ्य समाज के
का न रह गया। इस विषय में इतना और जान लेना चाहिए कि री
काल का विशेष सम्बन्ध तत्कालीन राजा-महाराजाओं से था। वे भो
विलासों में लिप्त रहते थे। और श्रृंगारी कविता को सुनना भी चा
थे। इसी से सम-सामयिक कवियों ने अपने अपने आश्रयदाताओं
प्रसन्न करने के लिए अश्लील चित्र तक चित्रित कर दिए। इस प्र
अलङ्काराधिक्य से काव्य का वास्तविक रूप अनावृत न रह सका। न
शिख वर्णन, षट्-ऋतु वर्णन, बारह मासा आदि के वर्णन को अधि
श्रृंगारी बनाने के लिए अश्लीलता को चरम सीमा तक पहुँचाया जा
लगा। प्रकृति का वास्तविक रूप तो साहित्य में अनावृत हुआ ही नहीं
इसी विषय में शुक्ल जी लिखते हैं कि प्रकृति की अनेकरूपता, जीव
की भिन्न २ बातों तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर इस काल
कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। इसी से उनके वर्णन अपूर्ण से
और तत्कालीन साहित्य सदोष हो गया।

उसी समय एक परिपाटी और प्रचलित हुई। कविगण रीति-ग्र
लिखकर आचार्य बनने का प्रयास करने लगे। इस साधना में
कला से अधिक काम लेना पड़ा। वे शास्त्र के अङ्ग-उपाङ्गों का वि
वर्णन करने लगे। उन्होंने संक्षेप में अलंकार और रसों के लक्षण लि
और उनके उदाहरणों के लिए उपयुक्त छन्दों द्वारा अपना कवित्व प्र
र्शन करना भी प्रारम्भ कर दिया। वे कवित्त और सवैया द्वारा
प्रकार के ग्रन्थों की रचना करने लगे। उनकी यह प्रतिपादन शैली प
वद्ध थी, इसी से उनके अभीष्ट तत्व का विकास समुचित रूप से न
सका। उनकी कविता कवित्व-प्रदर्शन की प्रबल उत्कण्ठा के कार
"स्वान्तः सुखाय" न हो सकी। वे शास्त्र विधान तक को त्याग
संयोग और वियोग की मुक्तक रचना कर लेने में ही अपने कर्तव्य

इति श्री समझने लगे। केवल नख शिख वर्णन एवं नायक नायिकाओं के वर्णन में पोथे के पोथे रचे जाने लगे।

कवियों की इस मनोवृत्ति का प्रभाव भाषा पर भी पड़ा। वह भी उन्हीं के समान लावण्य की लोच से सुसज्जित होने लगी। भाषा का चमत्कार इसी युग में देखने को मिल सकता है। उसमें सजीव और प्रवाह युक्त कोमल कान्त पदावली की रचना होने लगी। इस प्रकार इस काल की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ हैं—

१—शृङ्गार रस की प्रधानता।

२—अलंकार आदि काव्यांगों की विवेचना तथा नायिका भेद और नख शिख का विशद वर्णन।

३—छन्दों में कवित्त और सवैयों की प्रधानता, तथा कवित्तों में अधिक अंशों में वीर रस का समावेश; तथा सवैयाँआदि का शृंङ्गार और करुण रस से युक्त होना।

४—कवियों में प्रेम की मात्रा की अधिकता।

५—ब्रजभाषा की प्रधानता।

इस युग के प्रधान कवि बिहारी ने दोहों में अपने भाव गांभीर्य का परिचय किया। इस युग में कुछ वीर रस के भी कवि हुए, इनमें भूषण और बेनी विशेष प्रसिद्ध हैं। शृङ्गारी कवियों में केशव, त्रिपाठी बन्धु, बिहारी, मंडन, कुलपति, सुखदेव, देवदत्त आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

रीति-काल में काव्य सम्बन्धी सिद्धान्त निरूपण तथा काव्य की रीति के विवेचन की प्रधानता होते हुए भी कुछ कमी रह गयी। इस युग में शब्द शक्ति का विवेचन सम्यक रूप से न हो सका। हमारे रीति ग्रन्थकार सभी सिद्धान्तों का निरूपण पद्य में करते थे, गद्य में उनकी विस्तृत व्याख्या नहीं करते थे, इसीसे सैद्धान्तिक रूढ़ियाँ अस्पष्ट सी रह गयीं हैं। उनमें गम्भीर तत्वों का विवेचन न हो सका। इस युग में नाट्यशास्त्र का भी विवेचन नहीं किया गया। इस प्रकार तत्कालीन काव्य एकांगी ही रहा।

आचार्य केशवदास

केशवदास का जन्म संवत् १६१२ में हुआ था। आपके पिता नाम पं० काशीनाथ था। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। ओरछा-नरेश राज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह की सभा में रहते थे। दरबार इनका बड़ा मान था। इनके परिवार में सभी संस्कृत भाषा के ज्ञा थे। इनके भाई स्वयं कवि थे। ऐसी परिस्थिति में रहकर यह समय के साहित्य-शास्त्रज्ञ कवि माने जाते थे। आपका सम्पूर्ण जी ओरछा नरेश के दरबार में ही व्यतीत हुआ। राजा का आपके बड़ा विश्वास था। आपने स्वयं लिखा है कि वह राजा की कृपा से राज्य सा कर रहे हैं।

रचित-ग्रन्थ—आपके रचे हुए ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—कविप्रि रसिक प्रिया, रामचन्द्रिका, विज्ञान गीता, वीरसिंह देव चरित्र, र बावनी और जहाँगीर जस चन्द्रिका।

रामचन्द्रिका एक प्रबन्ध काव्य है। उसमें भगवान राम पावन चरित्र का वर्णन है। रतन बावनी वीर रस का काव्य है। कुछ विद्वानों का मत है कि एक बार केशव तुलसी से मिलने गये, तुलसी वहां मिले नहीं। इन्होंने समझा कि तुलसी को एक कितविया 'राम रितमानस' लिखकर गर्व हो गया है, इसलिए इन्होंने आते ही राम न्द्रिका लिख डाली।

केशव की भाषा बुन्देलखण्डी से प्रभावित ब्रजभाषा है। उन्हों संस्कृत भाषा का भी पूरा सहारा लिया है अतः आपकी ब्रजभा संस्कृति गर्भित ओज-पूर्ण भाषा हो गई है। छन्दों पर आपको पूरा अधिकार है, एक छोटे से छोटे छन्द को लेकर बड़े से बड़े छन्द को लि की पूर्ण क्षमता है। रामचन्द्रिका में तो आपने स्वयं लिखा है "राम

की चन्द्रिका वर्नत हौं बहु छन्द।" केशव की भाषा ओज-पूर्ण है। वीर रस आपका प्रधान रस है।

पढ़ौं, वरंचि मौन वेद, जीव सीर छंडिरे।
कुबेर बेर कै कही, न जच्छ भीर भंडिरे॥
दिनेश जाइ दूरि बैठि, नारदादि संग ही।
न बोलु चंद मंद बुद्धि, इन्द्र के समान ही॥

अलंकार तो केशव की भाषा का प्राण है। केशव स्वयं इस बात में विश्वास नहीं करते कि बिना अलंकारों के भी काव्य रचना हो सकती है। एक स्थान पर आपने कहा है "भूषन बिन न राजहीं कविता बनिता मित्त।" अतः सभी मुख्य मुख्य अलङ्कारों का बड़ी प्रचुर मात्रा में आपके काव्यों में प्रयोग हुआ है जिससे भाषा का सौन्दर्य बहुत बढ़ गया है।

कविता की विशेषता—केशव ओरछा नरेश के दरबारी कवि थे अतः एक दरबारी व्यक्ति में जो गुण होने चाहिये, वे सभी केशव में विद्यमान थे। वे चमत्कार-प्रदर्शन का सदैव प्रयास करते थे। केशव का सा चमत्कार-प्रदर्शन अन्यत्र नहीं मिलता।

साहित्य संसार में केशव के काव्यों को लेकर सदैव वादविवाद होता रहता है। कोई कहता है कि केशव में प्रबन्ध काव्य लिखने की क्षमता नहीं थी। किसी-किसी का मत है कि कथोपकथन में केशव मर्यादा का कहीं-कहीं उलंघन कर गये हैं और कहीं कहीं पर उनके कथोपकथन को देखकर साधारण कवि भी लज्जित हो जावेगा। प्रकृति निरीक्षण में सहृदयता की कमी बतलाई जाती है। दूसरा पक्ष ऐसा भी है जो केशव को आचार्य मानता है और इन सभी लगाये गये आक्षेपों को निराधार सिद्ध करने पर तुला हुआ है। हमें यहाँ न किसी तर्क में पड़ना है और न किसी की शंका का समाधान ही करना है।

निःसन्देह दो पात्रों में बातचीत कराते समय केशव ने अपने आचार्यत्व का अच्छा प्रदर्शन किया है। एकही छन्द में प्रश्न और उत्तर

सुन्दरता के साथ दिखला देना केशव ही की शक्ति है। रावण दरबार में अंगद-रावण सम्वाद बड़ा ही रोचक हुआ है। सम्वादों जितनी सफलता केशव को मिली है उतनी किसी अन्य कवि को नहीं आपके काव्य संवादों से भरे पड़े हैं। एक स्थान पर सभा में राव और अङ्गद का वार्तालाप देखिये :—

"राम को काम कहा ? रिपुजीतहिं कौन कबै रिपु जीत्यो कहां।
बालि बली, छलसों भृगुनन्दन गर्ब हरयो द्विज दीन महा॥"

इस प्रकार के संवादों से सम्पूर्ण रामचन्द्रिका भरी पड़ी है। इन संवाद के कारण रामचन्द्रिका में नाटक का सा आनन्द मिलता है। तुलसी के संवादों में भी ऐसी सजीवता और विदग्धता नहीं है।

चित्रोपम वर्णनों की प्रचुरता रामचन्द्रिका में सर्वत्र मिलेगी। अनुसूय्या का वर्णन देखिये :—

सिर सेत विराजै, कीरति राजै, जनु केशव तप बल की,
तनु वलित पलित जनुसकल वासना निकल गई थल-थल की,
कांपति शुभ श्री की सब अंग सींवाँ देखत चित्त भुलाहीं,
जनु अपने मन प्रति यह उपदेशति या जग में कछु काहीं।

शृंगार के वर्णन में, पूर्व राग, संयोग और वियोग है। तीनों ही अवस्थाओं का बड़ा विशद वर्णन केशव ने किया है। शुक्ल जी ने एक स्थल पर कहा है कि "शृंगार के उपादानों का विभाव अनुभाव, संचारियों का सूक्ष्म, तार्किक तथा शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ है, रस का काव्य से क्या सम्बन्ध है, रस की निष्पत्ति विभवादिकों से कैसे होती है, भावों और रसों का क्या सम्बन्ध है, रसाभास तथा भावाभास क्या है, इत्यादि विषयों को केशवदास ने छोड़ ही दिया है।" उन्होंने तो काव्य के केवल कला पक्ष को ही अपनाया है। इसीसे उनकी रचनाओं में यथोचित सम्बन्ध निर्वाह भी नहीं हुआ है और भाषा के प्रवाह में भी शिथिलता आगई है। वह केवल आचार्य ही बनना चाहते थे, इसीसे लक्षण

ग्रन्थ लिख कर देना वह अपना कर्तव्य समझते थे। इसीसे उनकी रचनाएँ दोषपूर्ण हो गयी हैं।

इतना होते हुए भी उनकी कल्पना शक्ति अत्यन्त प्रबल थी, उसकी उड़ान में उन्होंने जो चित्र खींचे हैं वे उच्चकोटि के एवं सुन्दर हैं। उनका पद विन्यास भी असाधारण है। उनके विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं—"जो हो, शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य मीमाँसा का मार्ग अच्छी तरह खोलने के लिए हिन्दी साहित्य आचार्य केशव का सदा ऋणी रहेगा। सूर, तुलसी आदि की सरसता एवं तन्मयता चाहे इनकी वाणी में न हो, पर रस अलङ्कार आदि के विस्तृत भेद निरूपण आदि के द्वारा साहित्य के सम्यक पर्यालोचन का गौरव इन्हीं को प्राप्त है।' हिन्दी नवरत्नों में भी उनको उच्चासन ही दिया गया है।

कविवर भूषण

भूषण का जन्म तिकवांपुर नामक ग्राम में, जो कानपुर जिला है, सम्वत् १६९० में हुआ था। ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इ पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कुछ लोगों का यह भी विचार कि प्रसिद्ध मतिराम कवि और चिन्तामणि इनके सगे भाई थे।

भूषण ने अपने जीवन के प्रथम बीस वर्ष व्यर्थ ही नष्ट कर दि थे। प्रारम्भ में वे कुछ भी पढ़े लिखे नहीं थे। ऐसा कहा जाता है कि ए बार इन्होंने भोजन करते समय अपनी भाभी से नमक माँगा, उन्हों कुछ कटु शब्द कह दिये जिनकी चोट इनके हृदय पर ऐसी लगी इन्होंने घर बार छोड़ दिया और विद्याध्ययन करने के पश्चात् कवि लिखना प्रारम्भ किया और शीघ्र ही भूषण के नाम से यह प्रसिद्ध गये। इनका वास्तविक नाम क्या था, यह आज तक ज्ञात न हो सका भूषण तो इनकी उपाधि थी जिसे चित्रकूट के सोलङ्की राजा ने इन्हें थी। ये महाराज छत्रसाल के राजकवि थे। इनकी कविता पर प्र होकर छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था। मह राज शिवाजी इनके बड़े भक्त थे। उन्होंने इनकी कविता पर प्र होकर कई गाँव पुरस्कार स्वरूप प्रदान किये थे। ये अन्त तक छत्र शिवाजी और महाराज छत्रसाल दोनों के कृपा पात्र रहे। इन्होंने स्व कहा कि "सिवा को बखानौ कै बखानौ छत्रसाल को", इनका दे सम्वत् १७७२ माना जाता है।

इनकी लिखी हुई तीन पुस्तकें प्राप्त हुई हैं—'शिवराजभूषण' 'शिवाबावनी', और 'छत्रशाल दसक'। इनके अतिरिक्त तीन ग्रन्थ 'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषणहजारा' और कहे जाते किन्तु वे ग्रन्थ आज तक प्राप्त नहीं हुए।

भूषण की भाषा ब्रज है, पर उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर अरबी फारसी, बुन्देलखण्डी और खड़ीबोली के शब्दों का भी प्रयोग किया है। भूषण ने शब्दों कीं तोड़ मरोड़ भी बहुत की है। कहीं कहीं तो उनका स्वरूप बहुत ही विकृत कर दिया है। भाषा में अलङ्कारों की छटा पूर्ण रूप में मिलती है। कहीं कहीं तो केवल अलङ्कार लाने के उद्देश्य से ही शब्दों की तोड़ मरोड़ की गई है। भाषा में सरलता और मधुरता का सर्वथा अभाव है पर वह वीरतापूर्ण भावों को प्रकट करने के लिए बहुत अधिक उपयुक्त हैं। उन्होंने ब्रजभाषा का ही विशेष रूप से प्रयोग किया है, किन्तु यत्र तत्र खड़ी बोली, प्राकृत, पंजाबी, बुन्देलखण्डी तथा फारसी शब्दों का भी यथोचित प्रयोग हुआ है।

"भुज भुजगेसकी वैसंगिन भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन बीच धसि जाति मीन,
पैरि पारिजाति परवाह ज्यों जलन के॥
रैया राय चंपति को छत्रसाल महाराज,
भूषन भनत को बखानि यौं बलन के।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरी बरछीने बर छीने हैं खलन के॥"
"लीन्हों अवतार करतार के कहैं ते कलि,
म्लेच्छन हरन उबारन भुव भार को।
चण्डी ह्वै घुमंडि अरि चंड मुंड चाबि करि,
पीवत रुधिर कछु लावत न बार को॥

'हिन्दुन के पति सों न बिसात,, सतावन हिन्दु गरीबन पाय कैं।
लीजै कलंक न दिल्ली के बालम आलम आलमगीर कहायकें॥"
इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनकी पदावली वीररस की हुङ्कार

से ओत-प्रोत है। उनके श्रवण-मात्र से कायर से कायर का भी रोमाँचित हो जाता है।

भूषण की शैली कवित्त और सवैयों की है। कहीं दोहों और में भी आपने भाव प्रकट किये हैं। यह शैली बहुत ओजपूर्ण है। वीररस के लिए, जो भूषण का मुख्य रस था, उपयुक्त है।

कविता की विशेषता:—भूषण वीररस के कवि हैं। सम्पूर्ण साहित्य वीररस में डूबा हुआ है। भूषण जिस समय साहि क्षेत्र में अवतरित हुए उस समय श्रृंगार का बोलबाला था। यवनों संसर्ग में आकर हिन्दी भाषा विलासमयी हो गई थी। भूषण ने समय की उस प्रवाहित धारा में वह बाँध लगाया कि एक नया ही भारत में आ गया। इसलिए भूषण को राष्ट्रीय कवि माना जाता है। तत्कालीन राष्ट्रीयता और देश प्रेम से भूषण की कविता ओत है। भूषण अपने युग के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। सच तो यह शिवाजी में राष्ट्रीयता की भावना भरने का बहुत कुछ श्रेय भूषण ही है।

निःसन्देह भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल की वीरताओं का व किया है किन्तु इनका वर्णन कहीं भी झूठी खुशामद नहीं जान पड़े इन दो वीरों को जिस उत्साह के साथ सारी हिन्दू जनता स्मरण क है उसी का भूषण ने अपने छन्दों में चित्रण किया है। इसीलिए भू के वीर-रस पूर्ण उद्‌गार सारी जनता के गले का हार बन गए।

भूषण ने श्रृङ्गाररस के भी दो चार कवित्त लिखे किंतु उनकी सं नहीं के बराबर है। भूषण का सम्पूर्ण साहित्य वीर रस में डूबा हु है। इनका साहित्य अमर साहित्य है। वह छत्रसाल या शिवाजी का व वरन् सम्पूर्ण हिंदू जनता का साहित्य है और यह साहित्य सदैव हि जनता को प्रोत्साहित करता रहेगा।

'शिवराज भूषण' अलङ्कार ग्रन्थ के रूप में बनाया है किन्तु अधिक सफल काव्य नहीं कहा जा सकता।

भूषण हिन्दी साहित्य के उन अमर कवियों में से हैं जिन्हें प्रत्येक युग अपने युग का प्रतिनिधि कवि मानता रहेगा। उनकी ओजपूर्ण कविता के कुछ उदाहरण देखिए:—

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
बाड़ी मरजाद जस-हद्द हिन्दुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
'भूषन' भनत दिल्लीपति दिल धक धक,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चन्डी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई सम्पति चकत्ता के घराने की।
....

दारा की न दौर यह, रार नहीं खजुवे की,
बाँधियो नहीं है कैंधों मीर सरवाल को।
मठ विश्वनाथ को न, वास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मन्दिर गोपाल को॥
गाढ़े गढ़ लीन्हे अस बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर हासिल उगाहत साल को।
बूढ़ति है दिल्ली को सँभारे क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को॥

स प्रकार हम देखते हैं कि भूषण ने रीतिकालीन शृंगारमयी धारा के ल प्रवाह में हृदय को उत्कर्ष से भरने वाले, और उसमें देशभक्ति अपूर्व भावना का संचार करने वाले वीर रस की धारा बहायी, सिसे सर्वत्र ही राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गई। यह उस युग के लिए क बड़े ही गौरव की बात थी। इसी से उनकी कविता का सर्वत्र ही दर हुआ। इस प्रकार वह हमारे प्रतिनिधि कवि ही नहीं थे अपितु क विशेष युग के सृष्टा भी थे, जिसके लिए हिन्दू जनता, हिन्दी ाहित्य तथा समग्र भारत उनका चिर-ऋणी रहेगा।

महाकवि बिहारी

जीवन परिचय—बसुआ गोबिन्दपुर नामक ग्राम में, जो ग्वालि-
यर के पास है, संवत् १६६० वि० में आपका जन्म हुआ था। आप जा-
के माथुर चौबे थे। इनकी बाल्यावस्था बुन्देलखन्ड में बीती और यु-
वस्था में अपनी ससुराल मथुरा में आकर रहने लगे। यह जयपुर के
राजा जयसिंह" के दरबारी कवि थे। ऐसा कहा जाता है कि इन्हें रा
जयसिंह की ओर से सरस दोहे बनाने की आज्ञा मिली थी और प्रत्ये
दोहे पर इन्हें एक अशरफी प्रदान की जाती थी। इस प्रकार इन्हों
लगभग ७०० दोहे लिखे जिनका संग्रह 'बिहारी सतसई' के नाम
प्रसिद्ध है। यह सतसई इनके जीवन की निधि है। यद्यपि यह एक
ग्रन्थ है जिसे बिहारी ने अपने पूरे जीवन में लिख पाया किन्तु
ग्रन्थ के प्रताप से आपका कीर्ति-प्रकाश साहित्याकाश में व्या
रहेगा।

भाषा—बिहारी की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है जो ब
ही सरस, कोमल और मधुर है। आपकी भाषा में अन्य भाषाओं
भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है जिनमें अरबी, फारसी तुर्की, बुन्देलख
और राजस्थानी सम्मिलित हैं।

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर,
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे क्रूर।

उक्त दोहे में 'सबी' शब्द फारसी का है जिसका शुद्ध रूप 'शबी' है
है। इस प्रकार ऊपर कही हुई प्रायः सभी भाषाओं के शब्दों का प्र
बिहारी ने किया है। किन्तु यह शब्द नगीने की तरह से जड़ गये
एक भी शब्द स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता है। यदि किसी

को हटाकर बदलने का प्रयास किया जाय तो सम्पूर्ण दोहे का सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय। बिहारी ने शब्दों की तोड़ मरोड़ भी कम नहीं की है किन्तु भर्ती के शब्द भी लाने का प्रयास नहीं किया। भाषा में किसी भी प्रकार की शिथिलता नहीं आने पाती। एक-एक शब्द मानों साँचे में ढला हुआ आता है। अलंकारों का जहाँ तक सम्बन्ध है कदाचित ही बिहारी का कोई दोहा ऐसा होगा जो दो दो तीन तीन अलंकारों से समलंकृत न हो। अलंकारों के प्रयोग से भाषा और भावों में कोई कमी नहीं आने पाई है। कहने का तात्पर्य यह है कि बिहारी की भाषा अत्यंत प्रौढ़ तथा परिमार्जित है।

"दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥"
"तो पै बारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजानि।
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समानि॥"
"तन्त्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रतिरंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अङ्ग॥"
"मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि केशर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगतु॥"-

उनकी कविता में बुन्देलखण्डी, और अरबी फारसी के शब्द (अकस ताकता, इजाफा, आदि) भी स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं, किंतु इनकी संख्या अत्यन्त सीमित है। कहा तो यह जाता है कि उनकी सतसई में इस प्रकार के ६० शब्द हैं। शेष शब्द ब्रजभाषा के हैं जिनको कवि ने अपनी इच्छानुसार तोड़ा मरोड़ा है। यही नहीं अपने भावों की सच्ची अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने बहुत से शब्दों को स्वयं भी गढ़ लिया है फिर भी उन्होंने अपनी भाषा में सरसता लाने का विशेष प्रयास किया है। इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है :—

"ब्रजभाषा बरनी कविन, बहु विधि बुद्धि विलास।
सबकौ भूषन सतसई, रची बिहारीदास॥"

बिहारी ने केवल दोहे लिखे हैं; कहीं कहीं कहीं पर सोरठे भी देखने को मिल जाते हैं । दोहा हिन्दी साहित्य का सबसे छोटा छंद है, किन्तु छोटे छन्द में जो रोचकता, गूढ़ता और भावुकता कवि ने भरदी है वह अन्यत्र देखने को न मिलेगी । ऐसा ज्ञात होता है मानों कवि ने गागर में सागर भर दिया है । इसलिए किसी कवि ने इनके दोहों से प्रभावित होकर कहा है —

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के ती ।
देखन में छोटे लगें, बेधें सकल सरीर ॥

कविता की विशेषता—बिहारी शृंगारी कवि हैं । शृंगार के क्षेत्र में बिहारी का स्थान सबसे ऊँचा है । आपकी 'बिहारी सतसई' शृंगार साहित्य का सिरमौर समझी जाती है । शृंगार वर्णन में यदि यह कहा जाय कि अमुक कवि ने कलम तोड़ दी तो निःसंदेह यह अधिकार बिहारी ही को प्राप्त हो सकता है । शृंगार के अतिरिक्त बिहारी ने नीति, वैराग्य संबन्धी दोहे भी लिखे हैं । आप इतिहास, ज्योतिष, गणित और विज्ञान आदि सभी विषयों के पंडित थे । आपका पाण्डित्य आपके सम्पूर्ण साहित्य में झलकता है ।

अनुभावों और हावों की जितनी सुन्दर योजना बिहारी ने की है उतनी कोई अन्य कवि नहीं कर सका:—

बतरस लालच लालकी, मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै, भौहनि हँसे, देन कहे नटि जाइ ॥
नासा मोरि, नचाइ दृग करी कका की सौंह ।
काँटे सी कसकै हीये, गड़ी कँटीली भौंह ॥
ललन चलन सुनि दृगनमें, अँसुआ झलके आइ ।
भई लखाइन सखिइन हू, झूठें ही जमुहाइ ॥

शोभा, सुकुमारता, कान्ति आदि के वर्णन में कहीं कहीं आप सीमा से आगे चले गये हैं:—

पत्राही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौ ही रहत, आनन ओप उजास॥
छाले परिबै के डरन सकै न हाथ छुवाई।
झिझकति हियैं गुलाब कैं, झवा झिवावति पाइ॥

अब बिहारी के कुछ नीति संबंधी दोहों के भी दर्शन कीजिये।

कर लै सूँघि सराहि कें सबै रहे गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब कौ, गंवई गाहक कौन॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कटीली डार॥

गणित ज्ञान की परीक्षा कीजिए:—

कहत सबै बेंदी दिये, आँक दस गुनौ होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥

भक्ति सम्बन्धी दोहे भी बिहारी के बहुत से मिलते हैं। उन दोहों को पढ़कर यह भली-भाँति समझ में आ जाता है कि बिहारी केवल शृंगारी कवि ही नहीं थे वरन् भगवान के भक्त भी थे:—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परै, स्याम हरित दुति होइ॥
मोर मुकुट, कटि काछिनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल॥

कहाँ तक कहें बिहारी का एक एक दोहा विचित्र है। कुछ लोगों का मत है कि बिहारी का साहित्य वह शक्कर की रोटी है, जिसे जिधर से तोड़िये उधर से ही मीठी। निःसन्देह बिहारी का ऐसा ही अनूठा और अनोखा साहित्य है कि एक बार डुबकी लगाने के पश्चात् बिहारी के शब्दों के अनुसार:—

"ज्यौं ज्यौं बूढ़ै स्याम रंग, त्यौं त्यौं उज्ज्वल होइ।" उस स्याम रस को प्राप्त कर लेता है फिर उसके लिए कुछ जानने को नहीं रह जाता।

कुछ विद्वानों का मत है कि "सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केशव-दास।" किन्तु बिहारी वह पीयूष वर्षी मेघ है जिसके छा जाने पर सूर्य चन्द्र और तारे सभी का प्रकाश लुप्त हो जाता है।

महाकवि देव

जीवन परिचय—महाकवि देव का पूरा नाम देवदत्त था, देव उनका उपनाम था। उनका जन्म संवत् १७३० विक्रमी में हुआ था :—

शुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष॥

अर्थात् संवत् १७४६ वि० में उन्होंने भाव-विलास की रचना की। उस समय वह १६ वर्ष के थे। वह सनाढ्य ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि उनका जन्म इटावा में हुआ था किन्तु बाद में मैनपुरी आकर कुसमरे में बस गये। उनके परिवार के व्यक्ति इस समय भी कुसमरे में हैं। देव की कुछ हस्त-लिखित प्रतियाँ भी उनके पास सुरक्षित हैं। वह एक स्वाभिमानी आशु कवि थे किन्तु किसी उपयुक्त आश्रयदाता के न मिलने के कारण न तो कहीं पर स्थिर ही रह सके, और न सुख-पूर्वक जीवन यापन ही कर सके। इस प्रकार उनका जीवन एक प्रकार के संघर्ष और एक प्रकार की चिन्ता से व्याप्त रहा है। उनके अन्तिम आश्रयदाता पिहानी के अकबर अली खाँ थे। उनका समय संवत् १८२४ वि० से माना जाता है। संवत् १८२४ में ही उन्होंने अकबर अली खाँ को अपना "सुख सागर तरंग" ग्रन्थ समर्पित किया। इसके उपरान्त का कोई भी ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हुआ। इसी से यह अनुमान लगाया जाता है कि महाकवि देव सम्वत् १८२४-२५ के लगभग परलोक सिधारे होंगे।

रचनाएँ—महाकवि देव ब्रजभाषा के एक समृद्ध कवि थे। उनके लिखे हुए ७५ ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। उनमें से अब तक केवल २५ ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सके हैं।—

१—भाव विलास २—अष्टयाम ३—भवानी विलास ४—कुशल विलास ५—प्रेमचन्द्रिका ६—जाति विलास ७—रस विलास ८—शब्द रसायन ९—सुखसागर तरंग १०—नीतिशतक ११—सुजानविनोद १२—राग रत्नाकर १३—देव चरित १४—सुन्दरी सिन्दूर १५—शिवाष्टक १६—प्रेम तरंग १७—देव माया प्रपंच १८—देवशतक १९—वृक्षविलास २०—पावस विलास २१—राधिका विलास २२—सुकाल विनोद २३—रामानन्द लहरी २४—प्रेम दीपिका २५—नख-शिख प्रेम दर्शन।

'काव्य रसायन' रस अलंकार आदि का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। "भाव विलास" भी एक उत्कृष्ट रीति गन्थ है। उन्होंने "प्रबोध-चन्द्रोदय" नाटक के आधार पर 'देव माया प्रपंच' नाटक में धर्म की विवेचना की और 'सुखसागर तरंग' में नायिका भेद का निरूपण किया।

भाषा शैली— देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। कहा जाता है कि "उनको जो भाषा मिली वह अत्यन्त समृद्ध थी। सूर ने उसकी निखिल शक्तियों का विकास करके उसको अत्यन्त व्यापक बना दिया था। हित हरिवंश और नन्ददास ने उसकी पद योजना को संस्कृत की शब्द-मणियों से जड़ दिया था, बिहारी ने उसके समास-गुण को पूर्ण विकास पर पहुंचा दिया था और मतिराम ने उसको सर्वथा स्वच्छ और परिष्कृत कर दिया था। देव ने अपने उत्तराधिकार का पूर्णतया सदुपयोग करते हुए उसको और भी समृद्ध किया।

इससे स्पष्ट है कि महाकवि देव की भाषा अत्यन्त प्राञ्जल और साहित्य-श्री की वर्धक है।

आई बरसानै तें बुलाई वृषभानु सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई।
चक चकवाकनि के चकाये चक चोरन सों,
चौंकत चकोर चकाचौंध सौं चकै गई॥
देव नन्द-नन्दन के नैननि अनंद मई,
नन्द जी के मंदिरन चन्द मई कै गई।

कजनि कलिन गई कुंजनि अलिन मई,
गोकुल की गलिन नलिन मई कै गई ॥

कितनी सुन्दर एवं सरस पद योजना है। भाषा की यह सरसता जन-हृदय को सहसा ही मोह लेती है। उन्होंने संस्कृत तत्सम पदावली का भी प्रयोग किया है किन्तु वह पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना से सर्वथा अछूती है।

"खंजन मीन मृगीन की
छीनी दृगंचल चंचलता निमिषा की
देव मयंक के अङ्क की पङ्क निसंक
लै कज्जल लीक लिखा की ॥"

उन्होंने अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए कहावतों और लोकोक्तियों का भी आश्रय लिया है किन्तु इनसे काव्य की सरसता में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आई है।

"चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गये भाग मेरे, जागि वा जगन के॥"
'चाह भई फिरौं या चित मेरे की, छाँह भई फिरौं नाह के पीछे।"
"ओस की आस बुझै नहिं प्यास विसास डसै जनि काल फनिन्द के।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाकवि देव का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उन्होंने सभी उपलब्ध साधनों द्वारा अपनी पदावली में सरसता लाने का ही प्रयास किया।

देव रीति ग्रन्थकार थे, आचार्य थे, इसी से उन्होंने सभी रसों पर छन्द रचना की। वे एक शृंगारी कवि थे, इसीं से उनकी रचनाओं में शृंगार रस की छटा देखने को मिलती है। उन्होंने अपनी कविता का मुख्य विषय प्रेम ही रक्खा था। उन्होंने स्वयं कहा है।

"बाणी को सार बखान्यो शृंगार,
सिंगार को सार किसोर किसोरी ॥"

देव ने शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को अधिक महत्त्व दिया है, और अर्थालंकारों में उपमा और स्वभावोक्ति को प्रधानता दी है। उन्होंने शब्द शक्ति की विवेचना भी गम्भीरता के साथ की है। उनके मत से चार शब्द शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य। जबकि अन्य आचार्यों के मत से प्रथम तीन ही हैं। इस प्रकार रीति-काव्य के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में देव को अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है।

देव की कविता में विराग भावना भी है, किन्तु वह सूर-तुलसी-कबीर की भावना के समान उत्कृष्ट नहीं है।

ऐसे जु हौं जानतौ कि जै है तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आज तौ हौ कत नर नाहन की नाही सुन,
प्रेम सों निहारि हेरि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो चित चचल अचल करि,
चाबुक चितावनि मारि मुँह मोरते।
भारौ प्रेम पाथर नगारो दै गरेसौ बाँधि,
राधावर विरद के वारिधि में बोरतो॥

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि महाकवि देव का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा है। वह अपनी श्रेणी के सर्वोत्कृष्ट कवि थे। उन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की जो सम्वर्धना की है वह स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। यदि उन्हें उचित एवं पर्याप्त समाश्रय उपलब्ध हो जाता, तो उनकी निश्चिन्तता बढ़ जाती और फलस्वरूप एक विशाल एवं अधिक समृद्ध साहित्य का सृजन होता, जिससे हिन्दी-साहित्य चमत्कृत हो उठता, और वे अपने युग के प्रवर्तक बन जाते। फिर भी उनकी यह सेवा सर्वथा श्लाघ्य है।

पद्माकर

जीवन परिचय:—कविवर पद्माकर रीतिकाल के उत्तरार्द्ध काल के प्रतिनिधि कवि हैं। उनका वास्तविक नाम प्यारेलाल था। उनका जन्म बाँदा में संवत् १८१० विक्रमी में हुआ था। वह मोहनलाल भट्ट के सुपुत्र थे। भट्टजी स्वयं भी प्रसिद्ध कवि थे। वह सहृदय समाज में सर्वत्र समादृत भी थे। राजा महाराजाओं के यहाँ भी उनका विशेष आदर होता था। उनसे इन्हें अच्छी जागीर भी मिली थी। उन्हीं के प्रभाव से पद्माकर की भी धाक जम गयी। वह प्रखर बुद्धि वाले तो थे ही, अल्पावस्था में ही सरस कविता करने लगे। कहा जाता है कि केवल १६ वर्ष की आयु ही में उन्होंने इस छन्द की रचना की थी :—

संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि,
तुरत लुटावत बिलम्ब उर धारै ना ॥
कहै पद्माकर सुहेम हय हाथिन के,
हल के हजारन के वितर विचारै ना ॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राय,
याहि गज धोके काहु को देइ डारैं ना ॥
याही डर गिरजा गजानन गोइ रही,
गिर ते गरे तैं निज गोद तैं उतारैं ना ॥

कितना सरस एवं भाव पूर्ण छन्द है।

वह कुछ समय तक गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के आश्रय में भी रहे और "हिम्मत बहादुर विरदावली" में उन्होंने उनका यशगान किया। यह ग्रन्थ वीर-रस से परिपूर्ण है। उन्होंने कुछ

समय तक जयपुर के महाराज जगतसिंह के आश्रय में रहकर उन्हीं
प्रशंसा में "जगद्विनोद" की रचना की। इसके उपरान्त वह ग्वालियर
महाराज दौलतराव सिन्धिया के दरबार में रहने लगे। किन्तु जीवन
अन्तिम दिनों में वह बाँदा चले आये और वहीं रहने लगे। वृद्धावस्था
उन्होंने वैराग्य ले लिया। इसी समय उन्होंने "प्रबोध पचासा
लिखा।

कहा यह जाता है कि मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व वह कानपुर च
आये और गंगाजी के किनारे गंगा स्नान करते हुए समय बिताने लगे।
गंगा स्नान से उन्हें कुष्ट रोग से भी मुक्ति मिल गई। इस के उपलक्ष
उन्होंने "गंगा लहरी" और 'राम रसायन' की रचना की। इस प्रका
८० वर्ष पूरा करके वह सम्वत् १८९० में महाप्रस्थान कर गये।

रचनाएँ—इस प्रकार पद्माकर की निम्नलिखित प्रसिद्ध रच-
नाएं हैं :—

हिम्मत बहादुर विरदावली, पद्माभरण, गनगौर, जगद्विनोद,
गंगालहरी, रामरसायन।

भाषा शैली—पद्माकर की भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। उसमें
एक प्रकार का प्रवाह है और है सरसता, जो पाठकों को सहसा ही मुग्ध
कर लेती है। उनके शब्दों में अपूर्व चमत्कार है। उनकी वीर रस की
पदावली बड़ी प्रभावशालिनी और ओजस्विनी है। उसे पढ़कर एवं सुन
कर हृदय फड़कने लगता है।

"बांका नृप दौलत अलीजा महाराज कबों,
साजि दल पकरि फिरंगिन दबावैगो।
दिल्ली दह-ट्टि, पटना हू को झपट्टि करि,
कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो।।

वीर रस के वर्णन में उन्होंने कहीं-कहीं परुष वर्णों का भी प्रयोग
किया है, किन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं :—

"मस्ती की मड़ामढ़ जड़ाजड़ जंजीरन की,
पत्रों की पड़ापड़ गरज्जों की गड़ागड़ी।
धक्कों की धड़ाधड़ अड़ग की अड़ाअड़ में,
ह्वै रहै कड़ाकड़ मुदन्तों की कड़ाकड़ी॥"

कवि का भाषा की सभी शक्तियों पर पूर्ण अधिकार है। इसी से वह स्निग्ध, मधुर, सुललित पदावली में भाव भरी प्रेम मूर्ति खड़ी कर सका है। अलंकारों की अपूर्व योजना से वह और भी अधिक चमत्कृत हो उठी है। स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं :—

"कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर, पदावली द्वारा एक सजीव भाव भरी प्रेम मूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की ललित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीर दर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गम्भीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रान्त-छाया दिखाती है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पद्माकर जी की भाषा में भी वैसे ही अनेक रूपों की उक्तियाँ हैं जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी की भाषा में हैं। उन्होंने उर्दू फारसी आदि अन्य भाषाओं के शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया है :—

"आरस सों आरत, संभारत न सीस पट,
गजब गुजारति गरीवन की धार पर।
कहै पद्माकर सुरा सों सुरसार तैसे,
विथुरि विराजैं बार हीरन के हार पर॥
छाजत छवीले छिरी छहरि छए के छोर,
भोर उठि आई केलि मन्दिर के द्वार पर
एक पग भीतर औ एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर॥

दगादार दोष दीन्ह दारिद बिलाइ गये,
किंकर के फंदमुबिन छोरे छुटि छुटि गे।
सुजन सुखारे करे पुन्य उजियारे अति।
पतित कहारे भवसिन्धु ते उधारे हैं॥
काहू ने न तारे तिन्हें गंग तुम तारे,
और ज़ेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं॥
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव, यातें।
दूतन बुलाइ कै विदा से वेगि पान दै॥
फारि डारु फरदन राखु रोजनामा कहुँ,
खाता खति जान दै बही को बहि जान दै॥'

उनकी भाषा स्पष्ट और साफ-सुथरी है। उसमें अवधी, ब्रज, बुन्दे- खण्डी का मिश्रण भी हुआ है, यह मिश्रण सर्वत्र ही मधुर है, उन तीखापन कहीं पर भी नहीं है।

काव्य साधना—पद्माकर रीतिकाल के अन्तिम भाग के क थे। वह ऐसे समय में अवतीर्ण हुए थे जब आचार्यत्त्व की परम समाप्त हो चली थी। यही कारण है कि उनकी रचनाएं आचार्यत्व साधना के उस गुरु भार से मुक्त सी हैं। इतना अवश्य है कि परम्परा आलंकारिक मोह इन्हें भी घेरे रहा जो कहीं कहीं तो अत्यन्त अ चिकर प्रतीत होने लगा है। इतना अवश्य है कि उनके शृङ्गार अश्लीलता नहीं है।

"फूलि रहे, फलि रहे, फवि रहे, फैल रहे,
झमि रहे, झलि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे'
"बनन में बागन में बगरो बसन्त हैं।
वृन्दावन बागन में वसंत बरसो परै॥"
"तौं ही लागि चैन जौ लौ चेति है न चन्द मुखी,
चेतेगी कहूँ तो चाँदनी में चुरि जायगी॥"

मतिराम के "रसराज" के समान ही उनका "जगद्विनोद" भी उत्कृष्ट ग्रन्थ है। अभ्यासी तथा रसिक सभी उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। उनकी सुमधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भावपूर्ण है कि उससे समूर्तचित्र सामने उपस्थित हो जाता है। उनकी कल्पना शक्ति इतनी प्रवल एवं प्रभावोत्पादक है कि बिहारी को छोड़ कर अन्य कोई भी कवि उनकी समता नहीं कर सकता है। उसमें भ-वुकता का संयोग है, जिससे सारा काव्य चमत्कृत हो जाता है।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि "पद्माकर ने रीतिकाल रूपी सुन्दर मधुमास के अन्तिम पुष्प के सदृश हिन्दी साहित्य की वाटिका को सुशोभित किया।" ऐसे ही कविगण साहित्य को चिरंतन बनाते हैं, उनकी कृतियाँ साहित्य की अमूल्य निधि होती हैं और वे साहित्य एवं संस्कृति के इतिहास में सदैव के लिए अमर हो जाते हैं।

आधुनिक काल

रीतिकाल के उत्तरार्द्ध से ही भारत में अङ्गरेजी शासन का प्रारम्भ हो गया। उनकी साम्राज्य लिप्सा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। विदेशियों के सम्पर्क से भारत पर पाश्चात्य सभ्यता का रंग चढ़ने लगा। इन विविध परिवर्तनों के कारण हमारी काव्य धारा कुछ समय के लिए अवरुद्ध सी हो गई। शासन को समुचित रूप से चलाने के लिए शासितों की भाषा का सम्पर्क भी नितान्त आवश्यक होता है, इसके लिए गद्य अत्यधिक उपयुक्त होता है। हमारे गद्य का विकास इसी युग में हुआ। गद्य के लिए हिन्दी की अनेक उपभाषाओं में से खड़ी बोली ही को अधिक उपयुक्त समझा गया। अतएव सभी काम खड़ीबोली में होने लगे, तथा ब्रजभाषा की प्रबल धारा अवरुद्ध हो गयी। ठीक भी है, गद्य के लिए ब्रजभाषा सर्वथा अनुपयुक्त है भी। इसी से तत्कालीन अनेक कवि ब्रजभाषा छोड़कर खड़ी बोली ही को अपनाने लगे। ब्रजभाषा के रीतिकालीन श्रृंगार में भी कमी आने लगी। इसी संक्रमणकाल में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र अवतीर्ण हुए। उन्होंने कविता तो ब्रजभाषा में की किंतु अपनी गद्य रचनाओं में खड़ीबोली ही को अपनाया। उन्होंने उसके रूप में समुचित परिष्कार करके उसे साहित्यिक भाषा बनाने का सफल प्रयास किया और नाटक, निबन्ध समालोचनाएँ आदि लिखकर तत्सम्बन्धी विषयों के आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करके हिन्दी साहित्य में अपना एक युग स्थापित कर दिया।

इस प्रकार इस युग में हिन्दी काव्य की दो भाषाएं प्रयुक्त हुईं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली। राजा लक्ष्मणसिंह, बद्रीनारायण चौधरी, जगन्नाथदास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, अयोध्या-

सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्री रामचन्द्र शुक्ल, वियोगी हरि, दुलारे लाल भार्गव की गणना ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में की जाती है। ब्रजभूमि में तो आज कल भी ब्रजभाषा का ही प्रचार है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के उपरान्त आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी साहित्योत्थान के लिए तद्वत् ही कार्य किया। उन्होंने गद्य साहित्य को उन्नत बनाने के लिए तो समुचित व्यवस्था की ही है, पद्य के संस्कार के लिए उससे भी अधिक प्रयास किया है। उन्होंने निबन्ध, समालोचना आदि के नियमों की विशद व्याख्या करके उदाहरण स्वरूप उत्कृष्ट निबन्ध तथा समालोचनाएँ लिखीं। हिन्दी साहित्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपनी कविता भी खड़ीबोली ही में की। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण वह भी युग-सृष्टा कहे जाते हैं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० लोचनप्रसाद पाण्डे, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' उन्हीं की मण्डली के थे। इसी युग में अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शंकर, लाला भगवानदीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल, रूपनारायण पाण्डेय हुए और आधुनिक नई धारा में रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, गोपालशरणसिंह, माखन लाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, अनूप शर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गुरुभक्त सिंह, उदयशङ्कर भट्ट, हरिवंशराय 'बच्चन', रामकुमार वर्मा, श्यामनारायण पाण्डे, रामधारीसिंह 'दिनकर', सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

इस युग में हमारी काव्यशैली में भी परिवर्तन हुआ। रीतिकाल में कवित्त, सवैयों की भरमार रही थी, किन्तु वे इस युग के और विशेषकर खड़ीबोली तथा राष्ट्रीय भावना के लिए विशेष उपयुक्त नहीं समझे गये। यही कारण है कि आधुनिक कवियों ने इस प्रकार के प्राचीन छन्द-बन्ध को न अपनाकर नवीन छन्दों की रचना की और उन्हीं के द्वारा अपनी भावाभिव्यक्ति की। हमारे प्रसाद, पन्त, निराला, वियोगी हरि और भी आगे बढ़ गये। उन्होंने अँग्रेजी तथा बङ्गाली के बहुत से छन्दों

अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ कीं, उनमें न तो अलङ्कारों की अतिशयता है और न बाह्याडम्बर की विशेषता ही। उनकी भाषा सीधी-साधी तथा सरस है किन्त अपने अभीष्ट भावों को स्पष्ट करने में पूर्ण समर्थ है। इस युग की कविता में एक विशेषता और भी है। वह राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है। सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में राष्ट्रीय भावनाएँ दिखलाईं, तदुपरान्त वियोगी हरि ने अपनी 'वीर सतसई' में वीर रस का बड़ा ही सुन्दर परिपाक किया है। इस युग में कवियों ने काव्य के अन्य रसों का भी वर्णन किया, किन्तु उन्हें करुण और हास्य रस में ही विशेष सफलता मिली है। समय के परिवर्तन से भाषा का भी विकास हुआ, उसमें मधुरता आ गई, वह गीत-काव्य के लिए भी उपयुक्त हो गई।

इस युग के प्रारम्भ एवं मध्य भाग में छायावाद, रहस्यवाद आदि अनेक वाद भी प्रचलित हो गये थे, किन्तु समाज में समादृत न होने के कारण ही वे बीच में ही समाप्त हो गये। इस युग के रहस्यवादी और छायावादी कवियों में प्रसाद, पन्त, महादेवी वर्मा विशेष उल्लेखनीय हैं। आजकल समाज प्रगति के पथ पर है, अतएव साहित्य भी इसी धारा में प्रवाहित होने लगा है। उसमें स्वदेश प्रेम की भावना है। उस में सभी प्रकार के काव्य की रचना हुई है। प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, नूरजहाँ, सिद्धार्थ इस युग के प्रमुख महाकाव्य हैं। उद्धव-शतक, आँसू पंचवटी, सिद्धराज, नहुष, अभिमन्यु-बध आदि अनेक उत्कृष्ट खण्डकाव्य भी हैं।

इस युग में गद्य साहित्य का भी समुचित विकास हुआ है और हो रहा है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि सभी प्रकार के गद्य ग्रन्थ हमारे सामने हैं। इस युग के प्रमुख उपन्यासकारों में उपन्यास-सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द, देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आजकल तो यह उपन्यास साहित्य बहुत ही आगे बढ़ गया है। गोदान, कंकाल, कर्मभूमि, निर्मला, निरूपमा, गोद,

मृगनयनी, नारी, सितारों के खेल, भिखारिणी आदि उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हैं।

उपन्यास साहित्य के साथ कहानी साहित्य का भी विकास हुआ। आजकल सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी जा रहीं हैं। विनोदशंकर व्यास, प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, वेचन शर्मा 'उग्र, जैनेन्द्रकुमार चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन, आदि प्रसिद्ध कहानीकार हैं।

इस युग का नाट्य साहित्य भी विशेष उल्लेखनीय है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तो इस परम्परा के प्रवर्तक थे ही, उनके उपरान्त बाबू जयशंकरप्रसाद ने स्कन्धगुप्त, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ आदि विशेष महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटक लिखकर हिन्दी साहित्य में एक विशेष युग स्थापित कर दिया है। उनके पश्चात् हरिकृष्ण प्रेम, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, बेचन शर्मा 'उग्र', माखनलाल चतुर्वेदी, सुदर्शन, 'कौशिक', सुमित्रानन्दन पन्त, सत्येन्द्र, चतुरसेन शास्त्री, रामनरेश त्रिपाठी, उदयशङ्कर भट्ट, आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इसी युग में एकाङ्की नाटक भी लिखे गये हैं जो साहित्य का एक नवीन उपहार है। रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, भुवनेश्वर मिश्र, आदि प्रसिद्ध एकांकी नाटक लेखक हैं। एकांकी नाटक लिखने के साथ ही साथ उनके आधारभूत सिद्धान्तों का भी विवेचन करके इस दिशा के अन्य नवीन लेखकों का भी सम्यक् पथ-प्रदर्शन किया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय, पद्मसिंह शर्मा आदि प्रसिद्ध निबन्ध लेखक हैं। इन्होंने साहित्यिक समालोचना की भी नीव डाली। इसी युग में पत्र-साहित्य का भी समुचित विकास हुआ। हम देखते हैं कि अनेक प्रकार की पत्र पत्रिकाएं धड़ाधड़ निकल रही हैं और हमारे साहित्य की अभिवृद्धि कर रही हैं।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं, कि आधुनिक युग में हमारे साहित्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ। साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर विभिन्न धाराएं प्रवाहित हो रही हैं जो अपने तीरवर्ती

क्षेत्रों का सिंचन करती हुई आगे बढ़ रही है। इतना अवश्य है कि आज कल अनेक प्रकार के वाद—दुखवाद, हालावाद, प्रतीकवाद चल निकले हैं, और अनेक प्रकार की राजनीतिक धाराएँ—समाजवादी, साम्यवादी, प्रजातंत्रवादी बहने लगी हैं। अवसरवादी नेता अपने मत के प्रचार के लिए इन धाराओं को और भी तीव्रता के साथ बहा रहे हैं, इसीसे आशंका है कि कहीं निकट भविष्य में भयंकर बाढ़ न आ जावे, जो सारे साहित्य प्रदेश को परिप्लावित कर दे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म सं० १६०७ वि० में, काशी के एक अग्रवाल बंश में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गोपीचन्द्रजी था। यह इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे। भारतेन्दु बाबू के माता पिता का निधन उनके बाल्यकाल में ही हो गया था। अतः उनकी शिक्षादीक्षा बहुत ही साधारण रूप में हो सकी, फिर भी इन्हें हिन्दी, संस्कृत और बंगला भाषा का अच्छा ज्ञान था।

भारतेन्दु बाबू की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। कविता का अंकुर बाल्यकाल से ही अंकुरित हो गया था। इनकी मृत्यु अल्पावस्था में ही हो गई, किन्तु इस थोड़े से समय में जो सेवा इन्होंने हिंदी भाषा की की है उससे इन्हें आधुनिक कवियों में उच्चकोटि का स्थान प्राप्त हो गया था।

इसके अतिरिक्त इन्होंने कई सामाजिक संस्थायें स्थापित कीं और कई पत्र निकाले। यह बड़ी उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। ये बड़े दानी और दयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। विद्वानों का समुचित आदर करते थे और अधिक धन भी व्यय करते थे जिसके कारण इन्हें कभी कभी आर्थिक कष्ट भी उठाना पड़ा। यह बड़े विनोदी स्वभाव के भी थे। सदैव हंस-मुख रहा करते थे। मनुष्य स्वयं इनकी ओर आकर्षित हो जाता था। सन् १८८५ ई० को ६ जनवरी के दिन इन्होंने संसार लीला समाप्त की।

रचनाएँ—भारतेन्दुजी रचित बहुतसी पुस्तकें हैं। कुछ तो बंगला भाषा के अनुवाद हैं और कुछ मौलिक रचनायें हैं। अपने छोटे से जीवनकाल में ही इन्होंने साहित्य कोष को इतना भर पूर कर दिया था

कि यदि वह और अधिक दिनों संसार में और रहे होते तो निःसन्देह वह साहित्य को सर्वगुण सम्पन्न कर जाते। उनकी मुख्य मुख्य रचनायें निम्नलिखित हैं :—

नाटक—सत्य हरिश्चन्द्र, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, भारत दुर्दशा, चन्द्रावली, नीलदेवी, अन्धेर नगरी, प्रेमयोगिनी, सतप्रीताप, विषस्य विषमषौधम्।

काव्य—प्रेम फुलवारी, भारतेन्दु सुधा।

इतिहास—काश्मीर-कुसुम, बादशाह दर्पण।

भाषा और शैली—भारतेन्दु बाबू की रचनाएं ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों ही में पाई जाती हैं। प्रेम और शृंगार सम्बन्धी रचनायें ब्रजभाषा में हैं, समाज सुधार सम्बन्धी कविता खड़ी बोली में लिखी गई हैं। कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों ही का प्रयोग किया गया है। आपकी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही बड़ी सरस, मधुर और हृदय-ग्राही हैं। पाठक सरलता पूर्वक कवि की भावनाओं के साथ काव्य का रसास्वादन करता चला जाता है। आपका गद्य उच्चकोटि का है और पूर्व प्रचलित भूलों से मुक्त है। वास्तव में उन्हें आधुनिक गद्य का जन्मदाता यदि हम कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

भारतेन्दु जी ने अपनी रचनाओं में कई शैलियों का प्रयोग किया है। जैसे गीत, दोहा, सवैया, कवित्त, कुण्डलियाँ, लावनियाँ और गजल इत्यादि। इनकी शैली बड़ी भावुक और सरस होती है। आपकी राष्ट्रीय कवितायें अपना एक अलग अस्तित्व रखती हैं। रीतिकालीन परंपरा को मानो उन्होंने एक नवीन आवरण पहनाकर नये रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

विशेषताएँ—भारतेन्दु बाबू का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके नया रूप प्रदान किया उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नवीन

भावनाओं से ओत-प्रोत कर दिया। यह सभी मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि भारतेन्दु ही वह पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने भाषा-संस्कार किया है। आपने कई प्रकार की रचनायें की हैं जैसे शृंगार, प्रेम, विरह, ईश्वर भक्ति, देश-प्रेम और समाज सुधार इत्यादि। आपने अपने काव्यों में नवीन और प्राचीन दोनों शैलियों का प्रयोग किया है जिनमें आप पूर्णतया सफल हुए हैं। शृंगार सम्बन्धी उनका साहित्य सरस भावनाओं से भरा पड़ा है। स्वदेश प्रेम पर लिखी गई कवितायें अपना एक अलग अस्तित्व रखती हैं। उन्होंने साहित्य की गति को मोड़कर राष्ट्रीय रूप प्रदान किया है। शृंगार का उनका वियोग और संयोग वर्णन यद्यपि ब्रजभाषा में ही हुआ है किन्तु वह इतना सुन्दर बन पड़ा है कि उनके पहिले के कवियों का शृंगार वर्णन भारतेन्दु बाबू के सामने फीका पड़ जाता है।

इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया है कि साहित्य को शिक्षित समुदाय के निकट पहुँचा दिया है। समयानुसार मनुष्यों की भावनाओं में परिवर्तन हो रहा था। देश प्रेम और समाज हित की भावनायें उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थीं किन्तु हिन्दी साहित्य बहुत ही पीछे पड़ा हुआ था। भारतेन्दु ने साहित्य को भावनाओं के समकक्ष खड़ा किया है।

बंगाल देश में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासों का चलन प्रारम्भ हो गया था किन्तु हिन्दी साहित्य अपना पुराना राग ही अलापे जा रहा था। भारतेन्दु ने बंगला भाषा के अच्छे अच्छे नाटकों और उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद करके बंग-भावना का हिन्दी साहित्य में प्रवेश करा दिया। इस प्रकार हमारे साहित्य को नवीन विषयों की ओर प्रवृत करने वाले भारतेन्दु ही हुए।

विधाता ने भारतेन्दु को इतना शीघ्र भारत से बुला लिया कि वे अपना कार्य पूर्ण रूपेण न कर सके। उपन्यास लिखने का प्रयास आपने अपने जीवनकाल के अन्तिम प्रहर में प्रारम्भ किया इसी से वह पूरा न हो सका।

उनके गद्य और पद्य के उदाहरणों से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु का गद्य साहित्य आधुनिकता के कितने निकट आ गया था। प्रेम योगिनी में सूत्रधार के इस भाषण को देखिये।

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बन्धु पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिन्दी का एक मात्र जनक, भाषा नाटकों का एक मात्र जीवनदाता, हरिश्चन्द्र दुखी हो ?"

भारतेन्दु जब भावावेश में आ जाते हैं तो उनके वाक्य छोटे, पदावली सरल बोलचाल की हो जाती है। फारसी अरबी के शब्द भी मिल जाते हैं किन्तु बहुत कम।

'झूठे, झूठे, झूठे ! झूठ ही नहीं, विश्वास घात। क्यों इतनी छाती ठोक और हाथ उठा उठाकर लोगों को विश्वास दिया ? आप ही सब मरते, चाहे जहन्नुम में पड़ते।"

अब आपकी कविता के कुछ रोचकता के उदाहरण देखिये :—

बाज्यौ करे नूपुर स्रौननि के निकट सदा,
पद तल माँहि मन मेरे बिहर्यौ करै।
बाज्यौ करे बंशी धुनि पूरि रोम रोम,
मुख मन मुस्कानि मंद मनहि हर्यौ करै॥
हरिचन्द्र, चलनि, मुरनि, बतरानि चित्त,
छाई रज छवि जुग दृगनि भर्यौ करै।
प्रानहू तें प्यारो रहै प्यारो तू सदाई,
प्यारे पीत पट सदा हिय बीच फहर्यौ करै॥

× × ×

धनि ये मुनि वृन्दावन-वासी,
दरसन हेतु विहंगम ह्वै रहे, मूरति मधुर उपासी।
नव कोमल दल पल्लव द्रुम पै मिलि बैठत हैं आई।

नैननि मूँद त्याग कोलाहल, सुनहिं धेनु-धुनि भाई।
प्राननाथ के दुख की बानी, करहिं अमृत रसपान।
'हरीचन्द्र' हमकों सोउ दुर्लभ यह विधि की गति आन।

अनुप्रासादि अलंकारों से सुसज्जित दो-चार पंक्तियाँ भी दे[illegible] लीजिए :—

"तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।"

"मनु मुक्त माँग सोभित भरी, स्यामनीर चिकुरनि परसि।
सतगुन छायो कै नीर में, ब्रज निवास लखि हिय हरसि॥"

'लोल लहर लहि पवन इक पै इक उमि आवत।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥"

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु बाबू हरिश्च[illegible] ने गद्य-पद्य, नाट क, निबन्ध, समालोचना आदि सभी में मह[illegible] पूर्ण रचनाएं कीं। साथ ही अपने युग के सभी साहित्यिकों का सम्[illegible] पथ प्रदर्शन किया। उन्होंने आधार भूत साहित्य सिद्धान्तों का [illegible] प्रकार निरूपण किया है कि साहित्य में उनका स्थान अमर हो गया[illegible] इसी से वह एक विशेष युग के निर्माता हैं। और आधुनिक हिन्दी[illegible] जन्मदाता हैं।

जगन्नाथदास रत्नाकर

जीवन परिचय—कविवर बाबू जगन्नाथदास रत्नाक रका जन्म भाद्रपद शुक्ला पंचमी संवत् २९२३ वि० में काशी के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। बाबू पुरुषोत्तमदास उनके पिता थे। वह बड़े ही रसिक थे, तथा उदू' हिन्दी और फारसी में अच्छी कविता करते थे। कविता-प्रेमी तथा रसिक होने के कारण उनके यहाँ सदैव ही कवि गोष्ठी लगी रहती थी। भारन्तेदु बाबू हरिश्चन्द्र भी उनके अत्यन्त घनिष्ट मित्र थे। इन सभी बातों का रत्नाकर जी पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वह भी बाल्यावस्था से ही कविता की ओर आकृष्ट हो गये उनकी ऐसी लगन देखकर भारतेन्दु ने एक अच्छे कवि होने का उन्हें आशीर्वाद भी दिया था। उनका आशीर्वाद फलीभूत हुआ और वह कालान्तर में अपनी कोटि के अन्तिम कवि हुए। उनका स्वभाव अत्यन्त सरल था। वह अत्यन्त विनोदप्रिय तथा पुरानी चाल ढाल के व्यक्ति थे।

उनकी बुद्धि बड़ी ही प्रखर थी। सन् १८९४ ई० में उन्होंने फारसी लेकर बी० ए० परीक्षा उतीर्ण कर ली। उन्होंने फारसी में एम० ए० करने का भी प्रयत्न किया, किन्तु कुछ विशेष कारणों से वह सफल न हो सके। इसके उपरान्त सन् १९०० ई० के लगभग उन्होंने अबागढ़ में नौकरी कर ली, किन्तु वहाँ का जलवायु उनके स्वास्थ्य के अनुकूल न होने के कारण उन्होंने उस नौकरी को छोड़ दिया। इसके पश्चात् सन् १९०३ ई० से सन् १९०६ ई० तक वह अयोध्या के महाराजा स्वर्गीय महामहोपाध्याय सर प्रतापनरायनसिंह के जीवन-काल पर्यन्त तथा उसके उपरान्त कुछ समय तक महारानी के व्यक्तिगत मन्त्री भी रहे। उन्होंने इस उत्तरदायित्वपूर्ण पद का कार्य-संचालन बड़ी सफलता के साथ

किया। इस बीच में वह साहित्य सेवा भी करते रहे। उनका शरीरान्त मंगलवार, आषाढ़ कृष्ण तृतीया सम्वत् १९८९ को हरिद्वार में हुआ।

वह प्रारम्भ में उर्दू के छात्र थे। उन्होंने सर्वप्रथम 'जकी' तखल्लुस से उर्दू में कविता की, किन्तु बाद में उन्होंने हिन्दी को अपनाया और ब्रजभाषा में कविता करने लगे। इसमें उन्हें सबसे अधिक सफलता मिली।

रचनाएँ—रत्नाकर जी ने कई मौलिक काव्यों की रचना की है—हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य रत्नाकर, घनाक्षरी;-नियम, रत्नाकर हरिश्चन्द्र, शृंगार-लहरी, गंगा विष्णुलहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, गंगावतरण, कलकाशी तथा उद्धवशतक। उन्होंने बिहारी सतसई की समालोचनात्मक टीका भी लिखी है जो 'बिहारी रत्नाकर' के नाम से प्रसिद्ध है। यह सतसई की टीकाओं में सर्वश्रेष्ठ है।

रत्नाकर जी शृंङ्गार-रस के कवि थे। इसकी छटा शृंगार लहरी और उद्धवशतक में देखने को मिल सकती है। 'हरिश्चन्द्र' खंडकाव्य में वीभत्स और करुण रस की प्रधानता है तथा 'वीराष्टक' में वीर रस की। रत्नाष्टक में बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, प्रभात, संध्या आदि का अति सुन्दर वर्णन है। गंगावतरण में गंगा के स्वर्ग से उतरने का दृश्य बड़ी ही सफलता पूर्वक दिखलाया गया है। यह ग्रन्थ महारानी की प्रेरणा से लिखा गया था। इस महारानी ने उन्हें १०००) पुरस्कार स्वरूप में भी दिए, किंतु रत्नाकरजी ने इस पुरस्कार को स्वयं ग्रहण न करके नागरी-प्रचारिणी सभा को दान में दे दिया। हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग से भी उन्हें इसी ग्रन्थ पर ५००) का एक पुरस्कार मिला था। उन्होंने सूरसागर के शुद्ध संस्करण को प्रकाशित करने का भी काम प्रारम्भ किया किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु के कारण यह महत्त्वपूर्ण कार्य अपूर्ण ही रह गया।

भाषा और शैली—रत्नाकर जी की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। उनके समय तक ब्रजभाषा के रूप में पर्याप्त संस्कार हो चुका था, उसमें अधिक खटकने वाले दोष नहीं रहे थे। रत्नाकर जी ने उसको और भी अधिक परिमार्जित किया। उन्होंने उसकी कोमलता एवं भाव गाम्भीर्य प्रकट करने की शक्ति को और भी अधिक स्पष्ट करके खड़ी बोली के इस नवीन युग में एक चमत्कार सा कर दिया। उन्होंने उसे लोकप्रिय बनाने का भी सफल प्रयास किया। इस महत्वपर्ण कार्य की साधना में उन्होंने लोकोक्तियों और मुहावरों को विशेष रूप से अपनाया।

"सुधि ब्रज वासिन दिवैया सुख रासिन की,
ऊधौ नित हमको बुलावन को आवतौ।"
"प्यारौ नाम गोविंद गोपाल को बिहाइ हाइ,
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा।"
"बारन कितेक तुम्हें बारन कितेक करें,
बारन-उबारन ह्वै बारन बनौ नहीं।"
"जीति उठि जायगी अजीत पाण्डु पूतिन की,
भूपि दुरयोधन की भीति उठि जायगी।'

उन्होंने ब्रजभाषा के कारक और क्रियाओं के रूपों में भी कुछ परिवर्तन किया हैं। ब्रजभाषा में एक ही क्रिया के आवश्यकतानुसार कई रूपों तक का विधान पाया जाता है। उन्होंने अपने इस संयोजक कार्य में भाषा की सरसता का विशेष ध्यान रक्खा है। "देना" क्रिया ही को ले लीजिए। इसके सामान्य भूतकाल के रूप दीन, दीन्हों आदि दिखलाई पड़ते हैं। रत्नाकर जी ने इन सब का परिष्कार करके शुद्ध रूपों का ही प्रयोग किया है। उनका यह परिष्कार-विधान हिन्दी साहित्य में अद्वितीय कार्य है। बिहारी, घनानंद आदि कवियों ने भी इस ओर कुछ प्रयास किया था, किन्तु इसमें उन्हें विशेष सफलता न मिली। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रत्नाकर जी की भाषा व्याकरणानुमोदित, नियम-नियंत्रित, लौकिक प्रयोगानुकूल एवं संयत है। उसमें भाव-

गांभीर्य है, सरसता है और सरलता है। उन्होंने ग्राम्यत्व दोष से युक्त ऐसे शब्दों का प्रयोग करके अपनी भाषा को सदोष नहीं बनाया है। साथ ही उसे शैथिल्यादि दोषों से भी सर्वथा मुक्त रक्खा है। इसी से उनकी भाषा में सजीवता है, और साकारता है। उनका प्रत्येक शब्द भावपूर्ण एवं स्वस्थानोचित है। उसमें हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करने की पूर्ण शक्ति है।

"पंचनि कै देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पंचनि को रनत्व पंचत्व में मिलैहों मैं।
ढोंग जात्यौ ढरकि परि उर सोग जात्यौ,
जोग जात्यौ सरकि सकंप कंखियानि तैं।
कहै रत्नाकर न लेखते प्रपंच ऐंठि,
बैठि घरा लेखते कहूँ धौ अखियानि तैं॥
रहते अदेख नाहिं वेश वह देखत हूँ,
देखत हमारी जान मारि पखियान तैं।
ऊधो ब्रह्म ज्ञान को बखान करते न नैंक,
देख लेते कान्ह जो हमारी अँखियानि तै॥"

उनकी भाषा अधिक परिमार्जित होने के कारण संस्कृत की तत्सम पदावली से युक्त है, किन्तु उसका प्रयोग अत्यन्त प्रचलित ढंग पर हुआ है। यह उनकी अपनी मौलिकता है। उनकी भावाभिव्यंजन शैली भी अपनी निराली ही है। वह पूर्ण सवल एवं समर्थ है। उसमें प्रवाह है और यथातथ्य चित्रण करने की पूर्ण शक्ति है।

"पुनि पूछ्यौ सुरराज, आज मुनि आवत कितैंतै।
लोकोत्तर आल्हाद परत, छलक्यो जो चिते तैं॥"

इन्द्र के इस प्रश्न का उत्तर नारद कितनी सुन्दरता से देते हैं:—

"अहो सहसदृग साधु ! बात साँची अनुमानी॥"

गोपियाँ उद्धव से कहती हैं।

"मन सौं करे जो सौं, स्रवन-सिर आँखिन सो,
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम।"

किन्तु एक प्रतिबन्ध है :—

"आवो एक बार गोकुल गली की धूरि धारि,
तब इहि नीति की प्रतीति करि लैहैं हम॥"

"औसर मिलै औ सरताज कछु पूछहिं तौ,
कहियौ कछु न दसा देखी सो दिखाइयौ॥"

"आहकै, कराहि, नैननीर अवगाहि, कछू—
कहिवे को चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ।"

अन्त में गोपियाँ कहती हैं :—

"नाम को बताइ और जताइ गाँव ऊधौ बस,
स्याम सौं हमारी राम राम कहि दीजियौ॥"

काव्य साधना—रत्नाकार जी की भाषा शैली उनकी काव्य साधना की परिचायक है। उससे यह स्पष्ट है कि वह एक भावुक कवि थे। उन्होंने दो प्रकार के काव्य लिखे— मुक्तक और प्रबन्ध काव्य। हरिश्चन्द्र, गंगावतरण, उद्धवशतक उनके उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने ऋतु वर्णन में कुछ फुटकर छन्द भी लिखे, जो मुक्तक की कोटि में रक्खे जा सकते हैं। इन सभी काव्यों में उनका अलङ्कार-विधान अत्यन्त सुन्दर है। उनकी भाषा अत्यन्त सजी हुई किन्तु स्वाभाविक है, उसमें कहीं-पर भी शिथिलता अथवा निर्जीवता दृष्टिगोचर नहीं होती है। उनमें मन की प्रत्येक दशा के चित्रित कर देने की पूर्ण शक्ति है।

एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब,
और अंगरहित अराधि करहैं कहा।"

"छिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा॥"

कितनी सुन्दर उक्तियाँ हैं जिनको रत्नाकर जी ने सरस और सरल पदावली में दिखलाया है।

"हौले-से, हले-से, हूल-हूले से, हिये मैं हाय,
हारे-से, हरे-से रहे हेरत हिराने से।"
"ज्ञान-मारतंड के सुखाये मनु मानस कौं,
सरस सुहाये घनस्याम करिवै लगै।"

रत्नाकर जी ने अर्थालङ्कारों का प्रयोग अति सुन्दर किया ही है, किन्तु रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है। संभवतः उनकी जैसी सफलता उस युग के किसी भी कवि को नहीं मिली। कहीं-कहीं पर तो उन्होंने अपने नाम तक को श्लिष्ट बना दिया है। इससे एक नए ही प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि महाकवि रत्नाकर की काव्य-धारा वास्तव में रत्नाकर के ही समान बहुमूल्य मुक्ताओं से संपन्न है। उन्होंने सूर से माधुर्य भाव तथा तुलसी से प्रबन्ध-कल्पना सीखकर अपने उत्कृष्ट काव्यों की रचना की। उनमें उनकी मौलिकता हैं तथा भावानुभूति व्यंजन शक्ति पूर्ण मात्रा में है। हृदय के अन्तरतम भावों की जैसी सुन्दर व्यंजना रत्नाकर जी ने की है, वैसी संभवतः किसी ही कवि ने की हो। इस दृष्टि से ब्रज-भाषा के आधुनिक कवियों में तो कोई भी उनकी समता नहीं कर सकता है। उनके इस साहित्य-सेवा कार्य के लिए हिन्दी संसार सदैव कृतज्ञ रहेगा। धन्य है ऐसे कवि को।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

जीवन-परिचय—कवि-सम्राट अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म बैसाख कृष्ण ३ संवत् १६२२ विक्रमी को निजामाबाद जिला आजमगढ़ में हुआ था। उनके पूर्वज बदाऊँ निवासी सनाड्य ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम भोलानाथ था। वैदिक नियमानुसार उपाध्याय जी की शिक्षा ५ वर्ष की आयु से ही प्रारम्भ हो गई। उस समय उर्दू फारसी का अधिक प्रचार था। अतएव हरिऔध जी को सर्व प्रथम फारसी ही पढ़ाई गई। संवत् १६३६ विक्रमी में वह वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण करके काशी के क्वींस कालेज में अङ्गरेजी पढ़ने के लिए प्रविष्ट हुए, किन्तु स्वास्थ्य के बिगड़ जाने के कारण उन्हें कालेज छोड़ना पड़ा। इसके उपरान्त घर पर ही उर्दू, फारसी और संस्कृत पढ़ी। संवत् १६४१ विक्रमी में वह अपने यहाँ के ही मिडिल स्कूल में अध्यापक हो गये। इसके उपरान्त सं० १६४६ में कानूनगो के पद पर नियुक्त हो गये और २० वर्ष तक आजमगढ़ में सदर कानूनगो के पद पर सफलता-पूर्वक कार्य करते रहे। अन्त में सन् १६२३ ई० में उन्होंने राज्य की सेवा-वृत्ति से अवकाश ग्रहण किया। इसके उपरांत वह काशी हिंदू विश्वविद्यालय में साहित्य के अवैतनिक अध्यापक हो गये। इस अध्यापन कार्य को भी उन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया। वहाँ से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त वे आजमगढ़ आगये और स्थायी रूप से वहीं रहने लगे। मार्च सन् १६४७ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया।

हरिऔध का जीवन हमारे लिए एक आदर्श जीवन है। वह प्राचीन गौरव और आर्य संस्कृति के पूर्ण समर्थक थे। उनकी यह मनोवृत्ति उनकी रचनाओं में स्पष्ट झलकती है। उनकी काव्याभिरुचि के विषय

में इतना कह देना असंगत न होगा कि उनके निवास स्थान के बाबा सुमेरसिंह के सम्पर्क में आकर वह काव्य के क्षेत्र में आये थे। वह उन्हीं के सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसीसे सनाढ्य ब्राह्मण होते हुए भी उनके नाम के आगे 'सिंह' लगा हुआ है, तथा "अयोध्या" और "सिंह" इन दोनों शब्दों का विपर्यय कर उनके पर्याय वाचक शब्दों से बनाया हुआ "हरिऔध" उपनाम रक्खा जो सर्वथा सार्थक है। वह अच्छे वक्ता और आलोचक थे। वह हिंदी साहित्य सम्मेलत के सभापति भी रह चुके थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'प्रियप्रवास' विशेष प्रसिद्ध है। यह मंगलाप्रसाद पारितोषिक से पुरष्कृत भी हो चुका है।

रचनाएँ —हरिऔध जी के कुछ ग्रन्थ मौलिक हैं, तथा कुछ अनूदित।

अनूदित —वेनिस का बाँका, रिपवान विंकिल, नीति-निबंध, उपदेश कुसुम, विनोद वाटिका।

मौलिक महाकाव्य—प्रियप्रवास, वैदेही वनवास।

स्फुटकाव्य —चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, रस कलश, प्रसून, कल्पलता, पारिजात, ऋतुमुकुर, काव्योपवन, प्रेमप्रपंच, आदि।

उपन्यास —ठेठ हिन्दी का ठाठ, अधखिला फूल।

आलोचनात्मक—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, कबीर वचनावली, आदि।

भाषा शैली- —हरिऔध हिंदी साहित्य के उच्चकोटि के साहित्यकार थे। उन्होंने गद्य-पद्य दोनों में ही अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। वह उर्दू-हिंदी, संस्कृत-फारसी के अच्छे विद्वान थे, इसीसे उनकी भाषा पर इन सबका समुचित प्रभाव पड़ा है। उन्होंने साधारण से साधारण बोलचाल की भाषा में भी लिखा है, और संस्कृत तत्सम, बहुला उत्कृष्ट साहित्यिक भाषा में भी। इस प्रकार उनकी भाषा चार वर्गों में रक्खी

जा सकती है:— १—ब्रजभाषा, २—सरल साहित्यिक हिन्दी, ३—उर्दू शैली से प्रभावित, ४—तत्सम् प्रधान हिन्दी।

चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, पुष्पोपहार, काव्योपवन साधारण बोलचाल की भाषा में ही लिखे गये। इनमें उर्दू का भी प्रभाव है।

"हो भरा सब कठोरपन जिसमें। संग कहना उसे न बेजा है।
है ठसक, गाँठ, काठपन जिसमें वह बड़ा ही कठिन कलेजा है॥"

"सारे लोक लोकपाल सहित विलोप ह्वै है,
कुल कलानिधि काल भाल में समावेंगे॥
तारकता तजि तजि तारक तिरोहित ह्वै,
प्रलय-पयोधि में बलूले पद पावेंगे॥

"है यही कामना मेरी,
सेवा हो सफल तुम्हारी।
ललकित आंखें अवलोकें,
वह मूर्त्ति लोक हितकारी॥"

"सुखद-पावस के प्रति सर्व की,
प्रगट सी करती अति-प्रीति थी।
वसुमती अनुराग स्वरूपिणी;
विलसती बहु वीर बधूटियाँ॥"

उनके रस कलश की भाषा ब्रज-भाषा तो है, किंतु उसमें ब्रज का शुद्ध रूप नहीं है, वह खड़ी बोली से प्रभावित है। प्रियप्रवास की भाषा संस्कृत पदावली से युक्त है।

"रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी कल हासिनी, सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली॥"

इस प्रकार की पंक्तियों तथा संस्कृत-श्लोकों की पंक्तियों में कोई भी अन्तर नहीं है।

"नव प्रभा परमोज्ज्वल लीक सी,
गति-मती कुटिला-फणिनी समा।

दमकती-दुरती घन-अङ्क थी,
विपुल केलि-कला खनि दामिनी ॥"

उनके चुभते चौपदे, चोखे चौपदों में तो मुहावरों की भरमार है।

साँस पाते जब बुराई से नहीं,
लाभ क्या तब साँस की साँसत किये।
जब दबाये से नहीं मन ही दबा,
नाक को हैं तब दबाते किस लिये ॥"
"जब हमारी ऐंठ ही जाती रही,
तब भला हम मूंछ क्या हैं ऐंठते।"
"मन्दिरों, मसजिदों कि गिरजों में,
खोजने हम कहाँ कहाँ जायें।
वह तो फैले हुए जहाँ में हैं,
हम कहाँ तक निगाह फैलायें ॥

इस प्रकार उन्होंने मुहावरों और ठेठ बोली पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया है। उनके कुछ चौपदे अत्यन्त साधारण कोटि के हैं। कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट भी हैं।

'पद्य प्रसून' में उनकी बोलचाल की और साहित्यिक प्रौढ़, दोनों ही प्रकार की भाषाओं की कविताएँ संगृहीत हैं। उनकी ये कविताएं पुराने ढर्रे की होते हुए भी लोक-प्रिय हैं।

कौड़ियों को हीं पकड़ते पाँत से। चाहिए ऐसा न जाना बन तुम्हें।
छोड़ देगा कौड़ियों का ही बना। यह तुम्हारा कौड़ियालापन तुम्हें।

हरिऔध की लेखन शैली अपनी निराली है। उन्होंने अपनी कविता में विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। कहीं पर तो उनमें उर्दू शैली के छन्द दिखलाई पड़ते हैं, कहीं ग्रामीण छन्द हैं, कहीं रीतिकालीन और कहीं संस्कृत साहित्य के छंद हैं। इनमें अधिकाँश छन्द अतुकान्त हैं। हिंदी साहित्य में अतुकान्त कविता करने वाले सर्व प्रथम कवि हरिऔध ही हुए हैं। इसमें वह पूर्ण-रूपेण सफल हुए हैं।

विमुग्धकारी मधुमास-मंजु था,
वसुंधरा थी कमनीयता मयी।
विचित्रता-साथ विराजती रही,
बसंत बासंतिकता वनान्त में॥"
"दृगों, उरों को, दहती अतीव थी,
शिखाग्नि तुल्या तरु-पुंज कोपलें।
अनार-शाखा कचनार डार थी,
प्रतप्त अङ्गार-अपार-पूरिता॥"

उनकी भाषा अत्यन्त सरस और माधुर्य रस से परिपूर्ण है। अलंकारों के अपूर्व संयोग से उसका सौदन्र्य और भी अधिक बढ़ गया है। वह सरल से सरल और गम्भीर से गम्भीर भावों तक की अभिव्यक्ति करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसी से कहा जाता है कि "हरिऔध" जी का भाषा के विविध रूपों पर पूर्ण अधिकार था। सरल और संस्कृत-गर्भित दोनों प्रकार की खड़ी बोली के साथ ही मंजी हुई ब्रजभाषा में समयानुकूल भावों की सुन्दर और लोक-कल्याणकारिणी अभिव्यंजना करने के कारण हरिऔध जी हमारे आजकल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं।

साहित्य साधना—महाकवि हरिऔध आधुनिककाल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उनका जन्म ब्रजभाषा के युग में हुआ था। इसीसे उन्होंने सर्वप्रथम ब्रजभाषा में ही काव्य रचना की। उन्होंने संस्कृत अतुकांत वृत्तों के आधार पर हिंदी खड़ी बोली में भी अतुकांत कविता की। आज तक हिन्दी के किसी भी कवि को अतुकांत कविता में उतनी सफलता नहीं मिली। उन्होंने कुछ गद्य ग्रन्थ भी लिखकर गद्य-साहित्य का संवर्द्धन किया। यही नहीं उन्होंने हिंदी साहित्य और भाषा का क्रमिक विकास के आधार पर आलोचनात्मक इतिहास भी लिखा जो हिंदी साहित्य में अद्वितीय ग्रन्थ है। उन्होंने उपन्यास लेखन में भी बड़ा कौशल दिखाया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी।

वह सामाजिक भावनाओं से अनभिज्ञ नहीं थे। हम देखते हैं कि

उनके सभी पात्रों में न्यूनाधिक सामाजिक भावना विद्यमान है।

"वे जी से हैं जगत जन के सर्वथा श्रेय कामी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा॥"
"वे छाया थीं सुजन शिरकी, शासिका थीं, खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं, औषधि पीड़ितों की॥
दीनों की थीं भगिनी, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं अवनि-ब्रज की, प्रेमिका विश्व की थीं।"

उनके प्रियप्रवास संक्षेप में समाज सेवा, स्वार्थत्याग, विश्व प्रेम, परोपकार आदि का शुभ सन्देश है। इसी मङ्गलमयी कल्याणवृत्ति की पृष्ठ भूमि पर राधा और कृष्ण के चरित्र दिखलाये गये हैं। वे लोक सेवक परोपकारी और कर्तव्यपरायण हैं। इसीसे हमारे आदर्श पथ-प्रदर्शक भी हैं।

"विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का, सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति का, मनुष्य का सर्व प्रधान कृष्ण है।"

कितनी सुन्दर भावना है। इसी के आधार पर किसी विशेष जनपद का ही नहीं, समस्त विश्व का भी कल्याण हो सकता है, उसमें विश्व बन्धुत्व की ऐसी अविरल धारा प्रवाहित हो सकती है जिसमें स्नान करके हमारे मानस के सभी कल्मष धुल सकते हैं और यह वसुधा भी सुधामय हो सकती है। धन्य है ऐसे चरित्र निर्माण-कर्ता को।

सारांश यह है कि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने हिन्दी के सर्वतो-मुखी विकास के लिए स्तुत्य प्रयास किया। उनकी रचनाएं सर्वगुण सम्पन्न हैं। भाव-भाषा और कला का उनमें समुचित विकास हुआ है। यही कारण है कि उनकी यह साहित्य-सेवा किसी भी दशा में विस्मृति के गर्भ में नहीं जा सकती है। हिंदी की जिस उर्वराभूमि में भारतेंदु जी ने बीजारोपण किया था, और द्विवेदी जी ने अपनी अविरल वारिधारा से जिसका सिंचन किया था, वह हरिऔध के युग में पल्लवित हुआ। इन्होंने उस साहित्यपादप का संरक्षण किया और उसको विकसित एवं समृद्ध बनाने का सफल प्रयास किया है।

रामनरेश त्रिपाठी

जीवन-परिचय—पंडित रामनरेश त्रिपाठी का जन्म सम्वत् १९४६ विक्रमी में जौनपुर के कोइरीपुर नामक ग्राम में हुआ था। पण्डित राम दत्त त्रिपाठी उनके पिता थे। वह बड़े ही भगवाद्भक्त तथा गीता और रामचरितमानस के प्रेमी थे। रामनरेश भी इससे बहुत ही अधिक प्रभावित हुए। त्रिपाठी जी प्रारम्भ से ही प्रतिभा सम्पन्न थे। प्रायमरी-शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त वह अङ्गरेजी पढ़ने के लिए जौनपुर गये, किंतु उनके पिता अङ्गरेजी शिक्षा के विरुद्ध थे, इसीसे उन्हें अङ्गरेजी पढ़ना छोड़ना पड़ा। थोड़े ही दिनों के पश्चात् वह कलकत्ता चले गये, किन्तु वहाँ जलवायु के प्रतिकूल होने के कारण बीमार पड़ गये। दशा अत्यधिक असाध्य हो जाने पर वह मारवाड़ चले आये। यहाँ पर उनका इलाज हुआ। ईश्वर की कृपा से वह शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। स्वास्थ्य-लाभ करने के उपरान्त उन्होंने वहीं एक पुस्तकालय भी खोल लिया और इस प्रकार साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। इस समय तक उन्होंने संस्कृत, उर्दू, बङ्गला, गुजराती आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

पिताजी की मृत्यु के उपरान्त वह प्रयाग चले आये और वहीं रहते हुए राष्ट्रीय और साहित्यिक कार्यों में पर्याप्त योग देने लगे। उस समय राष्ट्रीय आंदोलन प्रारम्भ हो रहा था। अतएव वह उसकी ओर विशेष झुक गये। इसके फलस्वरूप उन्हें डेढ़ वर्ष के लिए जेल-यात्रा भी करनी पड़ी। इसके उपरान्त वह साहित्य की सेवा में लग गये और अन्त तक इसी पुनीत कार्य में लगे रहे।

रचनाएँ—त्रिपाठी जी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और लेखक हैं।

उन्होंने कई मौलिक ग्रन्थ लिखे, कुछ का अनुवाद किया तथा कुछ ग्रन्थों का सम्पादन भी किया।

कविता-कौमुदी उनका उत्कृष्ट सम्पादित ग्रन्थ है। यह सात भागों में सम्पन्न हुआ है। हिन्दुस्तानी कोष, भूषण ग्रन्थावली, सुकवि कौमुदी, मारवाड़ के मनोहर गीत, सुदामा चरित, पार्वती मंगल, घाघ और भड्डरी, शिवा बावनी आदि उनके अन्य सम्पादित ग्रन्थ हैं।

रामचरितमानस की टीका, तुलसीदास और उनकी कविता दो भाग, हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास आदि उनके प्रसिद्ध समालोचना-ग्रन्थ हैं। मिलन, पथिक, पेखन, स्वप्न, मानसी, तरकस, प्रेमलोक, जयंत, बाल-कथा कहानी १७ भाग, गुपचुप कहानी २ भाग, मोहनमाला, बानर संगीत, महात्मा बुद्ध, चन्द्रगुप्त, मोतीचूर के लड्डू, अशोक, आल्हा उनके अन्य ग्रन्थ हैं।

इनको देखकर हम कह सकते हैं कि त्रिपाठीजी ने आबाल-वृद्ध सभी के लिए उपयुक्त सामग्री सजायी जो सभी को रुचिकर भी हुई।

भाषा-शैली—त्रिपाठीजी की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। उनका साहित्य साधारण जन-समाज का साहित्य है। इसी से वह अत्यन्त सरल, सुबोध एवं मनमोहक है। उनकी पदावली अत्यन्त सरल होते हुए भी भाव मय तथा चित्ताकर्षक है।

"कठिनाइयों-दुखों का इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में॥
दुख में न हार मानूँ, सुख में तुझे न भूलूँ।
ऐसा प्रभाव भर दे मेरे अधीर मन में॥"

"देश-प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है,
अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें,
मनुष्यता होती है विकसित॥"

उर्दू की पदावली से युक्त एक उदाहरण और देख लीजिए।

"मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥
बनकर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू।
मैं देखता तुझे था, माशूक के सदन में॥'

इन तीनों प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रिपाठी जी ने अपनी भाषा को जन-साधारण की भाषा बनाने का प्रयत्न किया। उसमें यथास्थान उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु इससे उस में कहीं पर भी नीरसता नहीं आने पाई है।

उनकी वाक्य रचना पूर्णरूप से व्याकरण सम्मत है। उसमें कहीं पर भी शिथिलता नहीं हैं। राष्ट्रीय-भावनाओं से युक्त पदावली में एक प्रकार का ओज है, शक्ति है और स्फूर्ति है, जो सहसा ही पाठक-वृन्द को उसी भाव-लहरी में निमग्न कर लेती है—

"सच्चा प्रेम वही है, जिसकी—
तृप्ति आत्मबलि पर हो निर्भर।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है—
करो प्रेम पर प्राण निछावर॥"
"जब तक साथ एक भी दम हो
हो अवशिष्ट एक भी धड़कन।
रखो आत्म-गौरव से ऊँची—
पलकें, ऊँचा शिर, ऊँचा मन॥
एक बूँद भी रक्त शेष हो,
जब तक तन में है शत्रुञ्जय।
दीन वचन मुख से न उचारो,
मानो नहीं मृत्यु का भी भय।"

क्योंकि—

"मृत्यु एक सरिता है जिसमें—
श्रम से कातर जीव नहाकर।

फिर नूतन तन धारण करता है,
काया रूपी वस्त्र बहाकर ॥"

कितनी सुन्दर एवं उत्कृष्ट भावना है, जो अत्यन्त सरल पदाव‍ में व्यक्त की गई है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनकी रचना युग और राष्ट्र की आकाँक्षाओं से परिपूर्ण हैं। उनमें अनुभूति है औ कल्पना है। उनमें भाव-व्यंजकता भी पूर्ण मात्रा में है। इसीसे वह आधु निक खड़ीबोली के प्रतिष्ठित कवियों में गिने जाते हैं।

जयशंकर प्रसाद

परिचय——श्री जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था जो 'सुघनी साहु' के नाम से विख्यात थे। आपकी जन्म तिथि माघ शुक्ला दशमी संवत् १९४६ वि० थी। आपके पिता का नाम श्री देवीप्रसाद था जो श्री शिवरत्न साहु के पुत्र थे। इन का बालकपन बड़े सुख से व्यतीत हुआ। ये दो भाई थे। इनके बड़े भाई का नाम शम्भूरत्न था।

माता और पिता के देहान्त के बाद घर का सब भार इनके बड़े भाई पर आ पड़ा, जिसके कारण इन्होंने भी पढ़ना छोड़ दिया और भाई की सहायता करने लगे, किन्तु विद्याध्ययन का क्रम बराबर चलता रहा। 'प्रसादजी' बाल्यावस्था से ही कविता करने लगे थे। इनके बड़े भाई को यह सब पसन्द नहीं था। इसलिए कुछ दिनों तक यह गुप्त रूप से कविता करते रहे। इनका जीवन बहुत ही नियमित था। प्रातःकाल उठ कर व्यायाम करते थे फिर अध्ययन करते और बाद में दुकान पर जाकर कार-बार देखते थे। इनके बड़े भाई की मृत्यु शीघ्र ही हो गई और सम्पूर्ण गृहस्थी का भार प्रसाद पर ही आ पड़ा। उस समय प्रसाद की अवस्था केवल सत्रह वर्ष की थी। अपनी भाभी के आग्रह पर इन्होंने विवाह किया। 'प्रसाद जी' के तीन विवाह हुए थे। तीसरी पत्नी से रत्नशंकर उत्पन्न हुए जो आज कल अपने व्यवसाय को चला रहे हैं।

प्रसाद बड़े उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। इस कारण उन्हें बड़े बड़े आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा।

आपके जीवन काल में ही आपकी ख्याति हिन्दी साहित्य क्षेत्र में पूरी तरह फैल गई थी और आपके रचित ग्रन्थ आदर के साथ पढ़े

जाते थे। एक बार हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) रु० का और नागरी प्रचारिणी की ओर से २००) का पुरस्कार मिला था। उसे उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दिया।

२८ जनवरी सन् १६३७ को यह बीमार पड़े। डाक्टरों ने 'राज यक्ष्मा' रोग ठहराया। इस रोग का नाम सुनकर यह अपने जीवन से निराश हो गये। अन्त में कार्तिक शुक्ला एकादशी सम्वत् १६६४ में आपका स्वर्गवास हो गया।

रचनाएँ—'प्रसाद जी' ने उपन्यास, नाटक, कहानी, काव्य और निबन्ध सभी पर कुछ न कुछ लिखा है जो इस प्रकार है—

उपन्यास—कंकाल, तितली और इरावती (अधूरा)।

नाटक—राजश्री, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और ध्रुवस्वामिनी इत्यादि।

कहानी-संग्रह—छाया, प्रतिध्वनि, आकाश - दीप, आंधी और इन्द्र जाल।

काव्य—चित्राधार, कानन-कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्व, झरना, लहर, कामायनी और आँसू।

निबन्ध—काव्य और कला।

भाषा—भाषा की दृष्टि से 'प्रसाद' का साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है। प्रसाद एक उच्च कोटि के कलाकार थे। इसलिए उन्होंने नवीन का साहित्य निर्माण करने में भाषा पर बहुत अधिक ध्यान दिया है। प्रायः गद्य में उनकी भाषा खड़ी बोली रही है किन्तु पद्य में उनकी भाषा खड़ी बोली और शुद्ध ब्रजभाषा दोनों ही रही हैं। इसी कारण उनकी भाषा में कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है और प्रवाह में भी कमी पड़ी है। 'प्रसाद' की प्रारम्भिक रचनाएं बड़ी सरल हैं किन्तु जैसे-जैसे उनका ज्ञान बढ़ता गया है वैसे ही वैसे भाषा भी कठिन होती गई है। उनका शब्द-चयन बड़ा सुन्दर है, एक-एक शब्द नगीने की तरह जड़ा हुआ है। उनके वाक्य उनकी विचारधारा के साथ चलते हैं।

रचनाओं में गूढ़ वाक्य भी मिलते हैं। मुहावरों का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु वह किसी प्रकार पाठक को खटकता नहीं। भाषा में माधुर्य, ओज और प्रवाह सर्वत्र बना हुआ है। नाटकों में पात्रों के अनुसार भाषा में उतार चढ़ाव नहीं है, सभी की भाषा एक सी हो गई है इसलिए नाटकों में स्वाभाविकता नहीं आने पाई है। किन्तु भाषा में एक संगीत है, अद्भुत उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है जो पाठकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है।

शैली—प्रसाद की शैली में उनकी स्वाभाविक रुचि, अध्ययन की गम्भीरता और व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। वह अपने प्रत्येक वाक्य में बोलते हुए से जान पड़ते हैं। छोटे छोटे वाक्यों में गम्भीर भाव भर देना और फिर उसमें संगीत और लय का विधान करना उनकी शैली की मुख्य विशेषता है। उनकी शैली में काव्यात्मक चमत्कार है। उनकी ओजपूर्ण शैली उनके नाटकों में देखने को मिलती है। पद्य साहित्य में उनकी शैली सर्वथा नवीन है। अतुकान्त और अप्रचलित छन्दों के प्रयोग से उन्होंने अपनी शैली में जो चमत्कार कर दिखाया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सारांश यह कि उनकी शैली सरस, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, ओजमयी और चुटीली है।

"तुम रूप रूप थे केवल, था हृदय भी रहा तुमको,
जड़ता की सब माया थी, चैतन्य समझ कर हमको।
मिले कहीं वह पड़ा अचानक, उसको भी न लुटा देना,
देख तुझे भी दूँगा तेरा, भाग, न उसे भुला देना॥"

एक-दो गद्य के भी उद्धरण देख लीजिये—

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिच कर एक कृषक बालिका का अपमान न करने आता।"

"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा

पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तरस्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्ति-मयी होती है।"

इससे यह स्पष्ट है कि उनके विचार प्रधान निबंन्धों में समास शैली का योग है। उसमें भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है। उसमें ओजस्विता एवं व्यावहारिकता भी है। इसीसे यह कहा जाता है कि इस शैली में मौलिकता की दृष्टि से शुक्ल जी के अतिरिक्त यदि किसी को सफलता मिली है तो प्रसाद जी को।

विशेषता—प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी थी। आधुनिक हिन्दी साहित्य के वह निर्माता थे। उन्होंने अपने अध्ययन से हिन्दी को उन्नत रूप दिया और अपनी रचनाओं से उसे सबल और प्रौढ़ बनाया। क्या नाटक, क्या कहानी, क्या उपन्यास और क्या काव्य सभी को प्रसाद ने अपनी प्रतिभा से पवित्र और पुष्ट किया।

प्रकृति-चित्रण प्रसाद के काव्य की एक मुख्य विशेषता है। प्रलय का चित्र देखिए।

"नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन॥"

'लहर' में सूर्योदय का दृश्य कितना सुन्दर बन पड़ा है।

"अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।
रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी तू चल पड़ा लेकर टूटा प्याला॥"

प्रसाद यौवन और प्रेम के कवि हैं, उन्होंने अपने काव्य में यौवन के बड़े ही सुन्दर चित्रण अंकित किए हैं:—

यौवन तेरी चंचल छाया ।
इसमें बैठ घूट भर पीलू जो रस तू है लाया ।।

दूसरा यौवन का चित्र देखिये—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अँचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये ।।

उक्त अवतरण से स्पष्ट है कि कवि सुन्दर चित्र उतारने में कितना कुशल है। इस प्रकार स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रसाद हिन्दी के टैगौर थे। उन्होंने तद्वत भाषा का परिमार्जन एवं सम्वर्द्धन किया। नाट्यकला की दृष्टि से तो वह एक विशेष युग के सृष्टा हैं। उन्होंने अपनी पुष्ट लेखनी से हिन्दी साहित्य की जो सेवा की वह सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी।

सुमित्रानन्दन पंत

जीवन-परिचय—सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म कौसानी नगर में, जो अल्मोड़ा के निकट है, सं० १९५७ विक्रमी में हुआ था। पं० गंगादत्त पंत इनके पिता थे जो कौसानी राज्य में कोषाध्यक्ष थे। इनकी माता का नाम सरस्वती देवी था। यह चार भाई हैं। यह पहले भी जमींदार थे और जमीदारी का काम अब भी होता है।

सन् १९१७ ई० में इन्होंने जयनारायण हाई स्कूल से स्कूललीविंग परीक्षा पास की। इसके पश्चात् १९१९ में वह प्रयाग आये और म्योर कालिज में भरती हो गये। यहाँ उन्होंने अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया; किन्तु १९२३ में इन्हें कालिज छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। घर पर ही अध्ययन का क्रम चलता रहा। रविबाबू के साहित्य का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया और उसका प्रभाव भी उन पर पड़ा। संगीत से आपको विशेष रुचि है।

रचनाएँ—पंत जी की बहुत सी रचनाओं को पाकर हिन्दी साहित्य कोष धन्य हुआ है। उनकी रचनाएं इस प्रकार हैं:—

१ काव्य—उच्छ्वास, पल्लव, पल्लविनी, वीणा, ग्रन्थि, गुंजन, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण-किरण, स्वर्ण धूलि, मधुज्वाल।

२ नाटक—परी, क्रीड़ा, रानी, ज्योत्स्ना।

३ उपन्यास—हार।

४ कहानी संग्रह—पाँच कहानियाँ।

५ अनुवाद—उमर खैयाम की रुबाइयों का हिन्दी में अनुवाद।

भाषा और शैली—यद्यपि पन्तजी खड़ी बोली के कवि हैं किन्तु उनकी खड़ी बोली अपनी निजी खड़ी बोली है। संगीतज्ञ होने के कारण

उन्हें अपनी भाषा में कुछ हेर फेर करना पड़ा है। इसीलिए उनकी भाषा ताल, लय, और स्वर के बहुत निकट आ गई है। उनकी भाषा बड़ी सुकोमल, सरस और मधुर भावों को वहन करने की क्षमता रखती है। भाषा में संस्कृत शब्दावली का भी प्रयोग किया है। किन्तु भाषा की सरसता को नष्ट नहीं होने दिया। आपको शब्द-चयन पर विशेष अधिकार है। पंतजी ने अपनी भाषा में ब्रजभाषा, उर्दू, फारसी तथा अंगरेजी के शब्दों से भी सहायता ली है। उन्होंने नये शब्दों की भी गढ़ना की है। आपकी भाषा में कहीं-कहीं व्याकरण की नियमावली का उल्लंघन भी हुआ है। कहीं कहीं शब्द पुलिग से स्त्री लिंग और स्त्री लिंग से पुलिंग कर दिये हैं।

आपकी पद योजना संस्कृत, बँगला और अंगरेजी पद-योजना से प्रभावित हुई है। अपनी भावना और सरसता के अनुसार पद-योजना का उन्होंने निर्माण किया है। अतः वह एक प्रकार से बिलकुल नई सी हो गई है।

आप छायावादी कवि हैं। छायावाद के आदर्शवाद की ओर आपकी रुचि विशेष है।

इतना अवश्य है कि उनकी सब कविताएं रहस्यात्मक नहीं है। ऐसी कविताओं में कवि की प्रतिभा बड़ी ही अच्छी तरह से प्रस्फुटित हुई हैं। उनमें भाव और कल्पना का भी अनुपम सामंजस्य दिखलाई पड़ता है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि खड़ी बोली में उनकी सी कोमलता, सुस्वरता और मधुरता कदाचित ही अन्यत्र मिलेगी। पंत जी की भाषा में वर्ण्य विषय के रम्य चित्र प्रदर्शित करने की अपूर्व शक्ति है। कवि अपनी "परिवर्तन" शीर्षक कविता में प्रलय काल में वासुकि के फणों से निकली हुई ज्वाला का कैसा सच्चा और सुन्दर शब्द-चित्र "शतशत फेनोच्छ्वसित, स्फीत, फूत्कार भयंकर" में खींच रहा है।

"दीनता के ही प्रकम्पित पात्र में।
दान बढ़ कर छलकता है प्रीति से।।" तथा

"तरणि के ही सङ्ग तरल तरङ्ग से ।
तरणि डूबी थी हमारी ताल में ॥"

में श्लेष और यमक के अच्छे प्रयोग हुए हैं !

"उस छवि के मंजुल उपवन को,
इस मरु से पथ जाता है ।
पर मरीचिका से विमोहित हो,
मृग मग में दुख पाता है,
बरसो सुख बन, सुखमा बन,
बरसो जगजीवन के घन ।"

विशेषता—लेखक की अपनी एक विचारधारा होती है, एक भावना होती है जिसके द्वारा वह अपने साहित्य को रचता है। पन्त आस्तिक विचारों के व्यक्ति हैं। भौतिकवाद पर विशेष विश्वास रखते हैं अर्थवाद पर नहीं।

आत्मवाद पर हँसते हो रट भौतिकता का नाम ?
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे, तुम संवार कर चाम ?

जीवनमृत्यु के विषय में पंत के विचार ठीक भारतीय दार्शनिकों जैसे हैं। वह जीवन को विकास और मृत्यु को उसका ह्रास मानते हैं। प्रकृति का जैसा मनोरम वर्णन पंत की कविता में हुआ है वैसा अन्यत्र कठिनता से मिलेगा ।

ग्रन्थि' जैसे छोटे से प्रेम काव्य में बड़ी ही मार्मिक वेदना है। कला की दृष्टि से यह अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ है। एक प्रेमी की विवशता के दर्शन कीजिये—

शैवालिन ! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को ।
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणों ! गाओ पवन वीणा बजा !

पर हृदय सब भाँति तू कङ्गाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठ कर।
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
मग्न भावी को डुबा दे आँख सी ॥

आँसू में पन्त कहते हैं—

"वियोगी होगा पहिला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान ॥"

वेदना के वर्णन में पन्त को अच्छी सफलता मिली है। शृंगार में संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का बहुत सुन्दर और विशद वर्णन पन्त ने किया है। प्रथम मिलन का चित्र निम्न पंक्तियों में देखिए :—

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर।
शशि-कला-सी एक बाला व्यग्र हो ॥
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल।
सदय, भीरु अधीर चिंतित दृष्टि से ॥

इस प्रकार वियोग शृङ्गार का भी चित्र देखिए कितना सुन्दर बन पड़ा है—

हाय मेरे सामने ही प्रणय का।
ग्रन्थि-बंधन हो गया, वह नव कुसुम ॥
मधुप सा मेरा हृदय लेकर, किसी—
अन्य मानस का विभूषण हो गया ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत आधुनिक युग के एक सफल कवि हैं। उनकी कविता में प्रकृति, जीवन, जगत, भाषा, भाव का बेजोड़ सौंदर्य प्रदर्शित किया गया है। वह हिंदी के उच्चकोटि के छायावादी कलाकार हैं।

महादेवी वर्मा

जीवन परिचय—श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ वि० में फर्रुखाबाद में हुआ था। इनके पिताजी श्री गोविन्दप्रसाद एम० ए०, एल० एल० बी० भागलपुर के एक स्कूल में प्रधान अध्यापक थे। इनकी माता का नाम श्रीमती हेमरानी देवी था। वह स्वयं भी कविता करती थीं। इस प्रकार महादेवीजी का जन्म ऐसे परिवार में हुआ था जहाँ विद्या का भरापूरा भण्डार था। इनके नाना भी ब्रजभाषा के कवि थे।

महादेवी की प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। विवाह के पश्चात् इनका पढ़ना छूट गया क्योंकि इनके श्वसुर इस पक्ष में नहीं थे कि लड़कियों को शिक्षा दिलाई जावे। उनके निधन के पश्चात् इन्होंने पुनः पढ़ना प्रारम्भ किया। सं० १९७७ में इन्होंने प्रथम श्रेणी में मिडिल परीक्षा पास की। सं० १९८१ में एन्ट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। सं० १९८३ में इन्टर और १९८५ में बी० ए० परीक्षा पास की। अन्त में संस्कृत लेकर एम० ए० किया। महादेवी जी ने बाल्यकाल से ही कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था। सबसे पहले इनकी रचनायें 'चाँद' में प्रकाशित हुईं। हिंदी-संसार ने इनकी रचनाओं का भरपूर स्वागत् किया जिससे उत्साहित होकर इन्होंने कविता लिखना पूरी तरह प्रारम्भ कर दिया। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् आप प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधान-अध्यापिका नियुक्त हुईं और आजकल आप उसी पद पर आसीन हैं। आपको अपनी रचनाओं पर पुरस्कार भी मिला है। 'नीरजा' पर ५००) रुपया सेक्सरिया पुरस्कार और 'यामा' पर १२००) रुपये का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला।

रचनाएं—महादेवी जी की रचनाओं का हिन्दी संसार ने सदैव

स्वागत किया है। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में रचनाएं की हैं। उन की रचनाएं इस प्रकार हैं—

(१) कविता—नीहार, रश्मि, नीरजा, साँध्यगीत और दीपशिखा।
(२) निबन्ध—अतीत के चलचित्र, शृंखला की कड़ियाँ।
(३) आलोचना—हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य।

भाषा—महादेवी वर्मा की भाषा संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली है। उन्होंने प्रारम्भ में ब्रजभाषा का प्रयोग किया किन्तु बाद में खड़ी बोली से परिचय पाने पर उसी को अपनी कविता का माध्यम चुना। 'प्रसाद' की तरह खड़ी बोली को काव्योचित बनाने में महादेवीजी का महत्वपूर्ण स्थान है। आपकी भाषा अत्यन्त शुद्ध मधुर और कोमल है। आपका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भाषा उनके भावों के अनुरूप ही हुआ करती है। महादेवी की भाषा सम्पूर्ण दोषों से रहित है। हाँ, यह अवश्य है कि तुकबन्दी के लिए आपने शब्दों को तोड़-मरोड़ भी दिया है। उनकी भाषा में यत्र-तत्र उर्दू के शब्द भी मिल जाते हैं किन्तु वह किसी कारण वश ही लाये गये हैं। उनके शब्द छोटे और वाक्य भावपूर्ण होते हैं। उनकी शैली अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करने में सबसे आगे हैं। पाठक को इनकी शैली समझने के लिए थोड़ा श्रम करना पड़ता है। कहीं-कहीं पर भाषा और शैली दोनों ही दुरूह और कठिन हो गयी हैं। वह विश्व के दुख को अपना दुख समझती हैं और कहती हैं :—

"दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये विना नहीं गिर सकता।"

"जहाँ तक दृष्टि जाती थी निस्पन्द समाधि में मग्न तपस्विनी आडम्बरहीन सूनी पृथ्वी ही दिखाई देती थी और उतने ही निश्चल तथा उज्ज्वल हिमालय के शिखर ऐसे लगते थे मानों किसी शरद पूर्णिमा की

रात्रि में पहरा देते-देते चाँदनी समेत जमकर जड़ हो गये हों।"

"युग युगान्तर की पथिक मैं छू कभी लूँ छाँह तेरी।
ले फिरूँ सुधि दीप सी, फिर राह में अपनी अंधेरी॥
लौटता लघु पल न देखा,
नित नये क्षण रूपरेखा।
चिर बटोही मैं, मुझे,
चिर पंगुता का दान कैसा॥"

'तरी को ले जाओ मँझधार, डूबकर ही जाओगे पार।',
"हो गयी आराध्य मैं विरह की आराधना से॥"

"रबि शशि तेरे अवतंस लोल
सामन्त जटिल तारक अमोल
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्रधनुष
हिमकर बन झरते स्वेद निकर,
अप्सरि! तेरा नर्तन सुन्दर।"

विशेषता—महादेवी अपना व्यक्तित्व सबसे अलग रखती हैं। हिन्दी के कवियों और कवियित्रियों से उनका मेल नहीं खाता। महादेवीजी का जीवन ससार की वेदना, पुलक और हास्य में होकर व्यतीत हुआ है अतः इसकी छाप इनकी कविता पर पड़े बिना न रही। वे अभिमान-रहित हैं। महादेवी स्पष्ट वक्ता हैं उन्हें जैसा समझ में आता है स्पष्ट कह देती हैं। इस बात की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं होती कि पाठक पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

महादेवी जी की रचनाओं का आधुनिक काव्य में मीरा जैसा स्थान है। प्रेम-वेदना दोनों ही में है किन्तु मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। दूसरी महत्ता है वेदना चित्रण की। दूसरा महत्व महादेवी को गीतों द्वारा प्राप्त हुआ है। उनके गीतों में भाव और संगीत की सरस धारा होती है। संस्कृत गर्भित होने पर भी उनकी कविता में सादगी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। महादेवी जी दार्शनिक भी है, क्योंकि उन्होंने

दर्शनशास्त्र का पूरा-पूरा अध्ययन किया है। परमात्मा के विषय में वह कहती हैं—

क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो ?

महादेवी उच्चकोटि की रहस्यवादी कवियित्री हैं। आधुनिक युग में उनकी ख्याति विशेष रूप से रहस्यवाद के कारण ही है। देखिए—

उतरो अब पलकों में पाहुन।
× × × ×
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी।
× × × ×

जाने किस जीवन की सुधि ले, लहराती आती मधु बयार।
वेदनामय चित्र देखिए—

"मेरी आहें सोतीं हैं इन ओठों की ओटों में।"

यह पीड़ा का अन्त नहीं चाहतीं वरन् उसका मधुर स्वाद लेना चाहती हैं।

"पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की पीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुम में ढूँढूँगी पीड़ा॥"

ये जन्म मृत्यु के बन्धन से छूटना नहीं चाहतीं।

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।

महादेवी जी का प्रकृति चित्रण भी कितना अनोखा और सुन्दर है—

फैलते हैं सांध्य-नभ में भाव ही मेरे रंगीले,
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महादेवी जी सत्य को पहचानती हैं, उनका सत्य अणु अणु में विराजमान है, किन्तु वह अमूर्त एवं अव्यक्त है, उसी की खोज में वह तल्लीन हैं और उसी के विरह से दुखी भी हैं।

यही कारण है कि उनका काव्य वेदना एवं विरह से परिपूर्ण है, जो पूर्ण-रूपेण ईश्वरोन्मुख है । इस प्रकार उन्होंने भी मीरा, कबीर आदि रहस्यवादी कवियों की भांति रहस्यपूर्ण रचनाएँ की हैं । इतना अवश्य है कि इनका रहस्यवाद एवं छायावाद कबीर के रहस्यवाद की भांति नीरस नहीं है, वह मीरा के ही समान परम आराधिका हैं । इस प्रकार उनका मार्ग उनका स्वयं अनुभूत है । इसी से उनका इस युग में एक विशेष स्थान है । उन्होंने वादों के इस युग में अपना एक नवीन मार्ग बनाया और सुचारु रूप से उसका नेतृत्व करने में अपने सम्पूर्ण समय को लगा दिया । हम देखते हैं कि महादेवी जी की कविता ने इस युग को सबसे अधिक प्रभावित किया है । उनकी वेदना के साथ ही हमारी हृत्तंत्री के तार झंकृत हो उठते हैं ।

"चिन्ता क्या है रे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा ।
हो जायेगा तेरा ही,
पीड़ा का राज्य अँधेरा !!

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

जीवन परिचय—कविवर 'निरालाजी' का जन्म माघ शुक्ल ११ सं० १९५३ वि० को हुआ था। इनके पिता पं० रामसहाय त्रिपाठी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और उन्नाव जिले के गड़ाकोला नामक गाँव में रहते थे, पर जीविका के कारण बंगाल के मेदिनीपुर गाँव में जा बसे थे। यहीं निराला जी का जन्म हुआ। निराला जी ने अध्ययन के साथ साथ कलाओं का भी विशेष ज्ञान प्राप्त किया। आपने संगीत की शिक्षा भी पाई। आप धनी परिवार के बालक थे। आपका विवाह १३ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। इस विवाह से दो सन्तानें हुईं एक लड़का और दूसरी लड़की, लड़की तो मर गई किन्तु लड़का अभी जीवित है। २२-२३ वर्ष की अवस्था में उनकी पत्नी का देहान्त होजाने से उनकी जीवन दिशा ही बदल गई। कुछ दिनों के बाद द्विवेदीजी की कृपा से इन्हें 'समवन्य' के सम्पादन का भार मिल गया, जो सर्वथा इनकी रुचि के अनुकूल था।

निराला जी अभी जीवित हैं पर शरीर और मन दोनों से वह शिथिल हो गए हैं। उनका साहित्यिक जीवन प्रायः समाप्त हो चुका है।

रचनाएँ—निराला जी ने लगभग ५४ पुस्तकों की रचना की है। इस प्रकार हिन्दी सेवियों में इनका मुख्य स्थान है। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं।

काव्य—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका, कुकुर मुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अपरा आदि।

उपन्यास—अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरूपमा, उच्छृङ्खल, चोटी

की पकड़, काले कारनामे, चमेली।

कहानीसंग्रह—लिली, सखी, चतुरी चमार, सुकुल की बीबी।

रेखाचित्र— कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा, आलोचनात्मक निबंध संग्रह, प्रबंध पद्य, प्रबंध प्रतिभा, प्रबंध परिचय, रवींद्र कविता-कानन।

जीवनियाँ—राणाप्रताप, भीम, प्रह्लाद, ध्रुव, शकुन्तला। शेष अनुवाद हैं।

भाषा और शैली—निरालाजी की भाषा संस्कृत शब्दों से परिपूर्ण खड़ीबोली है। उस पर बंग भाषा का भी प्रभाव है। बंगभाषा के शब्द प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। उर्दू और फारसी के शब्द भी उनकी रचनाओं में बहुत आये हैं। कभी-कभी विदेशी शब्दों से उनकी भाषा में जान आगई है और कभी-कभी शिथिलता भी। भाषा के प्रयोग में वे बड़े सफल हुए हैं। उन्होंने अपनी भाषा को संगीतमय भाषा भी बनाने का प्रयोग किया है। निराला जी की रचनाओं में स्वाभाविक प्रवाह है। क्लिष्ट भाषा का उदाहरण देखिए।

गंध व्याकुल - कूल - उर - सर
लहर - कच कर कमल मुख पर
हर्ष अलि हर स्पर्श शर सर
गूंज बारम्बार ! (रे कह)

निराला जी की भाषा उनके भावों की भाँति ही मस्तिष्क को मथ डालती है।

भाषा की भाँति शैली भी बंग-शैली से प्रभावित है। वह अपनी शैली में सर्वथा स्वतन्त्र रहे हैं। विद्रोही कवि होने के कारण अपनी विचारधारा को अपनी किसी प्रणाली में बँधने नहीं दिया। उनकी शैली ओजमय नाटकीय छटा से परिपूर्ण है। शृङ्गार की मधुरिमा और वीर रस की ओज पूर्ण छटा उनकी शैली की मुख्य विशेषता रही है। अनुप्रास और उपमायें उन्हें विशेषरूप से सधे हुए ज्ञात होते हैं। इनका प्रयोग इन्होंने अपनी कविताओं में विशेष रूप से किया है।

विशेषता—निराला जी का प्रकृति-चित्रण उनकी कविता को

मुख्य विशेषता है। उनके प्रकृति-चित्रण में न तो स्वाभाविकता है न वास्तविकता वरन् उनका प्रकृति चित्रण अपना एक नवीन है। रहस्यवाद और अद्वैतवाद दोनों दृष्टियों से उन्होंने प्रकृति का अध्ययन किया है।

'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता से कवि अपने समय की राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित हुआ जान पड़ता है, किन्तु उसने इसे अपने निजी दृष्टिकोण से देखा है :—

जागो फिर एक बार।
सिहनी की गोद से छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह, रहते प्राण ? रे अजान,

भिक्षुक का वर्णन बड़ा ही सजीव किया है।

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता,
पेट पीठ दोनों हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक।

कुकुर मुत्ता आपकी व्यंग और हास्यपूर्ण रचना है। इसके द्वारा सामाजिक कुरीतियों पर मार्मिक व्यंग किया गया है। देखिये कुकुरमुत्ता ताव से कहता है :—

अबे, सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगों अबा,

निराला जी ने वर्त्तमान समाज की प्रत्येक अव्यवस्था के ऊपर भी व्यंग किया है।

निराला जी किसी एक दिशा के कवि नहीं वरन् उन्होंने जीवन की प्रत्येक स्थिति पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। मुख्य रूप से देश, समाज, मानव-हृदय और प्रेकृति चित्रण उनके विषय रहे हैं। इनकी भाषा और भाव दोनों ही बड़े कोमल हैं। कोई कवि इनकी समानता में इनके क्षेत्र में दावा नहीं कर सकता।

सुभद्राकुमारी चौहान

जीवन परिचय—श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म सं॰ १९६१ में नागपंचमी के दिन प्रयाग में हुआ था। इनके पिता ठाकुर रामनाथसिंह सुशिक्षित और शिक्षा प्रेमी थे। सुभद्राकुमारी की तीन बहनें और दो भाई थे।

सुभद्राकुमारी की प्रारम्भिक शिक्षा प्रयाग में हुई थी। सं॰ १९७६ में उनका विवाह खंडवा निवासी ठा॰ लक्ष्मणसिंह चौहान, बी॰ ए॰ एल॰ एल॰ बी॰ के साथ हुआ, उस समय वह प्रयाग के क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल में छात्रा थीं। विवाह के पश्चात वह बनारस के थियोसोफिकल स्कूल में अध्ययन करने गईं, परन्तु कलकत्ते की काँग्रेस में जब असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ तब उन्होंने स्कूल छोड़ दिया। सुभद्राकुमारी जी अपने पति के साथ जबलपुर चली गईं और वहाँ जाकर राष्ट्रीय आन्दोलन में कार्य करने लगीं। आपको दो बार जेल यात्रा भी करनी पड़ी। वह मध्यप्रदेश असेम्बली की सदस्या भी थीं। उनके दो पुत्र एक तथा पुत्री हैं।

सुभद्रा जी अत्यन्त सरल स्वभाव की महिला थीं। उनका रहन सहन बहुत सादा था। राष्ट्रीयता उनके जीवन का शृङ्गार थी। जब से राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लगीं, तब से देशभक्ति का रंग बहुत गहरा हो गया। श्री पं॰ माखनलाल चतुर्वेदी के सम्पर्क में आने पर उनकी काव्य प्रतिभा और अधिक चमक गई, जिसने इन्हें हिन्दी साहित्य क्षेत्र में सदा के लिए अमर कर दिया। १२ फरवरी सन् १९४८ ई॰ को मोटर-दुर्घटना से उनके पार्थिव शरीर का नाश हो गया।

रचनाएँ—सुभद्रा जी कवियित्री और लेखिका दोनों ही थीं।

कविता कहानी दोनों पर ही सम्मेलन द्वारा सेकसरिया पारितोषिक प्रदान किया जा चुका है। उनकी रचनाएं इस प्रकार हैं—

मुकुल, बिखरे मोती, उन्मादिनी, त्रिधारा, सभा के खेल और सीधे चित्र। मुकुल इनकी ३९ कविताओं का संग्रह है जिस पर इन्हें सेक्सरिया पुरस्कार मिला था। 'सभा का खेल' उनकी बालोपयोगी कविता का संग्रह है। सीधेसदे चित्र शीर्षक पुस्तक में उन की कहानियों का संग्रह है।

भाषा—सुभद्रा जी की भाषा खड़ी बोली है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बड़ी सफलता पूर्वक हुआ है। इनकी भाषा इतनी सरल और सीधी है कि पाठक को कविता समझने के लिए किसी शब्द का अर्थ खोजना नहीं पड़ता। उनकी भाषा उनके भावों के अनुरूप होती है। भाषा में ओज, प्रसाद और माधुर्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। विदेशी शब्दों का प्रयोग बड़ी निपुणता से किया है। हिन्दी उर्दू दोनों भाषाओं के प्रचलित शब्दों का चयन करके अपनी भाषा में प्रयोग किया है जिससे भाषा की सुन्दरता और भी बढ़ गई है। सुभद्रा जी की भाषा में एक और विशेषता यह है कि जिस प्रकार उन्होंने आभूषणों को ठुकराया उसी प्रकार भाषा को भी अलंकारों की छूत नहीं लगने दी। बड़ी सरसता और सरलता पूर्ण इनकी भाषा स्वाभाविक रूप में निरन्तर आगे बढ़ती जाती है।

"बढ़ जाता है मान वीर का,
रण में बलि होने से।
मूल्यवती होती सोने की,
भस्म यथा सोने से॥
रानी से भी अधिक हमें अब,
यह समाधि है प्यारी।
यहाँ निहित है स्वतन्त्रता की,
आशा की चिनगारी॥

"कृष्ण चन्द्र की क्रीड़ाओं को, अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृ मोद को, अपने ही मन में लेखो॥"

कविता की विशेषता—सुभद्रा जी आधुनिक कवियित्रियों में अपना एक प्रमुख स्थान रखती हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा के बाद आप ही का दूसरा स्थान है। आपकी कविता से देवियों ही को नहीं वरन् नवयुवकों को भी पर्याप्त प्रेरणा मिली है। आपकी कविताओं को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। (१) देश भक्ति पूर्ण कवितायें (२) मातृत्व भावना पूर्ण कवितायें (३) प्रणय सम्बन्धी कवितायें। देश भक्ति पूर्ण कविताओं में 'झाँसी की रानी' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। उनका एक एक शब्द नवीन स्फूर्ति और उत्साह देने वाला है। वीरोचित नारी-जीवन का जितना सजीव चित्र सम्भव हो सकता है, इस पद्य में चित्रित कर दिया गया है।

"वीरों का कैसा हो वसन्त" और "जलियाँ वाले बाग में बसंत" भी आपकी ऐसी ही ओज-पूर्ण रचनाएँ हैं। "वीरों का कैसा हो वसंत" की पंक्तियाँ देखिये—

कहदे अतीत् अब मौन त्याग,
लंके! तुझ में क्यों लगी आग?
ऐ कुरुक्षेत्र अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त?

राष्ट्रीय कविताओं के अतिरिक्त वात्सल्य रस की कवितायें भी बड़ी भावुक और सुन्दर हुई हैं।

"मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नंदन बन सी फूल उठी यह, छोटी सी कुटिया मेरी॥"

"बालिका का परिचय" शीर्षक कविता में उनकी भावुकता बहुत आगे बढ़ जाती है:—

"मेरा मन्दिर मेरी मसजिद काबा काशी यह मेरी।
पूजा पाठ, ध्यान जप तप है घट घट बासी यह मेरी ॥"

× × × ×

परिचय पूछ रहे हो मुझसे कैसे परिचय दूँ इसका ?
वही जान सकता है इसको, माता का दिल है जिसका।

माता को अपने बालक पर कितना अभिमान होता है ? उसका रुदन भी उसके लिए अभिमान का कारण होता है।

"तुमको सुन कर चिढ़ आती है, मुझको होता है अभिमान।
जैसे भक्तों की पुकार सुन, गर्वित होते हैं भगवान॥"

प्रणय सम्बन्धी कविताओं में दाम्पत्य-भाव फूटा पड़ता है। 'चलते समय' शीर्षक कविता की कोमलता का दर्शन कीजिये।

"मैं सदा रूठती ही आई, प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहिचाना।
वह मान बाण सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना॥"

सुभद्रा जी के भाव बड़े ही सीधे और सरल होते हैं। अन्य कवियों की तरह वह ऊँची उड़ानें नहीं भरतीं वरन् इस वस्तु जगत के अन्दर ही उनकी दृष्टि इतनी पैनी हो जातीं है कि वह अपने भाव और विचारों से पाठक को आत्मविभोर कर दतीं हैं। उनके भावों में एक प्रकार कीं मादकता है और है अपूर्व आकर्षण।

रामकुमार वर्मा

जीवन परिचय—रामकुमार वर्मा का जन्म सम्वत् १९६२ में हुआ था। इनके पिता श्री लक्ष्मीप्रसाद जी डिप्टी कलेक्टर थे। वर्मा जी की प्रारम्भिक शिक्षा कई स्थानों पर हुई। रामटेक और नागपुर के मराठी स्कूल में मराठी की शिक्षा पाई। हिन्दी की शिक्षा उन्हें उनकी माता श्रीमती राजरानी ने दी थी।

जिस समय यह एन्ट्रेन्स में पढ़ रहे थे उसी समय राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ा फलतः वर्मा जी ने स्कूल छोड़ दिया और 'देश सेवा' पर एक कविता लिखी जिस पर आपको ५१) का खन्ना-पुरस्कार मिला, इससे इनका उत्साह और बढ़ा। १९२३ में इन्होंने पुनः स्कूल में पढ़ना प्रारंभ कर दिया और एन्ट्रेन्स परीक्षा पास की। सन् १९२७ में बी ए० परीक्षा पास की और सन् १९२९ में एम० ए० परीक्षा हिन्दी में पास की और उसी समय प्रयाग विश्व-विद्यालय में हिन्दी के लेक्चरार की आवश्यकता हुई। अतः वह उसी पद पर नियुक्त हो गये। अधिक काल तक कार्य करने के पश्चात् यह जबलपुर चले गये। कुछ समय पूर्व यह मध्यप्रान्त के शिक्षा-विभाग के डिप्टी डायरेक्टर बन गए थे परन्तु बाद में पुनः प्रयाग विश्व विद्यालय में लौट आए और आजकल मास्को यूनीवर्सिटी में कार्य कर रहे हैं। नागपुर विश्व- विद्यालय ने इनकी साहित्य सेवा के उपलक्ष में इन्हें पी० एच डी० की उपाधि दी है।

रचनाएँ—इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं हैं जो विषय के अनुसार कई प्रकार की हैं। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

कविता—कुल ललना, चितवन, अंजलि, रूपराशि, चित्ररेखा, चंद्र किरण, वीर हमीर, चित्तौड़ की चित्ता, अभिशाप, निशीथ।

नाटक—पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, शिवाजी आदि।

आलोचना—साहित्य समालोचना, कबीर का रहस्यवाद, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।

गद्यगीत—हिमहास।

संग्रह—हिन्दी गीत काव्य, कबीर पदावली, जौहर, आधुनिक हिंदी काव्य, संत कबीर।

निबन्ध संग्रह—विचार दर्शन।

चित्ररेखा काव्य पर इन्हें २०००) रु० का देव पुरस्कार मिल चुका है।

भाषा और शैली—वर्मा जी की भाषा शुद्ध साहित्यिक खड़ी बोली है। यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग हुआ है किन्तु भाषा में क्लिष्टता नहीं आने पाई। आपकी भाषा बड़ी सरल और कोमल होती है। समझने में कहीं भी कठिनाई नहीं होती, सरलतापूर्वक समझ में आती चली जाती है। भाषा की कोमलता पाठकों को मोहित किये बिना नहीं रहती।

वर्मा जी की शैली प्रवाह पूर्ण है। गीतात्मक तथा इतिवृत्तात्मक दोनों ही शैलियों का प्रयोग किया है। नाटकों में आपकी शैली भावात्मक हो गई है। इन शैलियों के प्रयोग में इन्हीं के अनुरूप भाषा का स्वयं निर्माण किया है। अलंकार स्वाभाविक रूप में कविता में आते चले जाते हैं। उनकी भाषा गतिमय है जिसके द्वारा भावों को युक्तियुक्त बनाने का प्रयत्न लक्षित होता है। वर्मा जी की भाषा सरस, मधुर, भावुक और ओजपूर्ण है। वर्णनात्मक और मुक्तक दोनों शैलियों में आपने रचना की है।

विशेषता—वर्मा जी नवीन धारा के प्रमुख कवि हैं। उनकी कवितायें बड़े आदर के साथ पढ़ी जातीं हैं। उनकी कविताओं में कल्पना और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। वर्मा जी अनुभूति प्रधान कवि हैं। इनकी रचनायें प्रायः रहस्यमयी होती हैं। उन्होंने कबीर साहित्य का बहुत गम्भीर अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त वह

पाश्चात्य रहस्यवाद से भी प्रभावित हैं। अतः दोनों ही का स्पष्ट प्रभाव हमें इनकी रहस्यमयी कविताओं में मिलता है।

वर्मा जी के गीत भावपूर्ण, संक्षिप्त और संगीतमय होते हैं। इनके गीतों को पढ़ते ही पाठक तन्मय हो जाता है। अनुभूति प्रधान गीतों में भी कल्पना का पुट रहता है पर बहुत कम। इनकी कवितायें शृङ्गार रस की भी हैं किन्तु करुण रस की अधिक हैं।

"धूल हाय! बनने ही को खिलता है फूल अनूप,
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप।"

\+ \+ \+ \+

"क्यों लिखते हो खींच खींच,
विद्युत की उज्ज्वल रेखा,
मैंने तो नभ को केवल।
पृथ्वी पर रोते देखा॥

बादल के तिरछे तन स्थिर,
मैंने कभी न पाया,
प्रात: में भी दौड़ गयी,
संध्या की काली छाया॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी कविता में एक प्रकार की निराशा तो है, किन्तु उसमें अनीश्वरवादिता नहीं है।

"रजनी मलीन है, सजे किन्तु,
आशाओं के सुन्दर प्रदीप,
विस्तृत सागर के अश्रु पूर्ण।
उर में संचित है एक दीप॥"

उनमें आधुनिक कवियों की रहस्यवादी-भावना भी है। उनके रहस्यवाद में तादात्म्य सम्बन्ध हो जाने पर भी आत्मा को अपनी सत्ता का ज्ञान रहता है। इसीसे वह अन्त तक आनन्द की अनुभूति कर सकतीं है।

"मैं तुमसे मिल सकूं, यथा उर से सुकुमार दुकूल"
"मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार।
धूल समझकर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार॥"
"धूम जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं।
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं॥"

एक उद्धरण और देख लीजिये :—

"मैं समीप, असीम सुख से, सींचकर संसार सारा।
सांस की विरदावली से, गा रहा हूँ यश तुम्हारा॥
पर तुम्हें अब कौन स्वर, स्वरकार! मेरे पास लाये?
भूलकर भी तुम न आये॥"
"यह जीवन तो छाया है, केवल सुख दुख की छाया।
मुझको निर्मित कर तुमने, आँसू का रूप बनाया॥"

उनकी यह भावना कबीर को "सपने में साँई मिले, सोवत लिया जगाय।" रहस्यमयी भावना से मिलती जुलती है।

वर्मा जी जितने उच्चकोटि के कवि हैं उतने ही सुन्दर नाटककार भी हैं। इनके नाटकों में अभिनयशीलता प्रधान रूप से है। वह रंगमंच पर सरलता से खेले जा सकते हैं। नाटकों के विषय मुख्य रूप से ऐतिहासिक ही होते हैं। आपका एक आलोचना-ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है। इसलिए वर्मा जी कवि, गद्य-लेखक और नाटककार सब कुछ हैं।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

जीवन परिचय—हिन्दी संसार रामधारीसिंह 'दिनकर' से उनके वास्तविक नाम से, बहुत कम परिचित है। वह सर्वत्र 'दिनकर' के नाम से ही विख्यात हैं। इनका जन्म सं० १९६५ वि० में बिहार के मुंगेर जिला के अन्तर्गत सिमरिया ग्राम में हुआ था।

'दिनकर' जी की प्रारम्भिक शिक्षा उनके गाँव की पाठशाला ही में हुई। सन् १९३२ ई० में पटना विश्वविद्यालय से उन्होंने बी० ए० पास किया। कविता लिखने की ओर उनकी रुचि प्रारम्भ से ही थी। "प्रभा गंगा" नाम का काव्य उन्होंने मैट्रीकुलेशन पास करने के बाद ही लिखा था।

'दिनकर' जी को इतिहास, राजनीति और दर्शन से विशेष प्रेम है। वे उर्दू, संस्कृत और बंगला भी अच्छी तरह से जानते हैं।

'दिनकर' जी का नवयुवक कवियों में प्रमुख स्थान है। उनकी कवितायें बड़ी रुचि के साथ पढ़ी जाती हैं। वीर रस आपका प्रधान रस है।

रचनाएँ—दिनकर जी की रचनाओं का हिन्दी-संसार में बहुत मान है। उन्होंने अपने जीवन के प्रथम प्रहर से ही कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था। आपको अपनी कविताओं पर कई बार पुरस्कार भी मिला। इस समय तक आपकी नीचे लिखी हुई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं :—

काव्य-संग्रह—रेणुका, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, हुंकार, धूपछाँह, सामधेनी, बापू।

महाकाव्य—कुरुक्षेत्र।

आलोचना—मिट्टी की ओर।

भाषा और शैली—'दिनकर' जी की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। उनका शब्द-चयन अत्यन्त पुष्ट है। उनकी भाषा में भावों की शिथिलता कहीं देखने को न मिलेगी। उनकी भाषा उनके विचारों के सर्वथा अनुकूल होती है। इसलिए उनकी भाषा का प्रभाव हृदय पर बहुत स्थायी होता है। उनकी भाषा बहुत सरल और रोचक होती है। क्लिष्ट शब्दों की योजना तो कहीं मिलेगी ही नहीं। उनकी प्रत्येक पंक्ति में वीर रस छलकता सा जान पड़ता है। वे व्यर्थ पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयास नहीं करते। शैली अत्यन्त शुद्ध और प्रौढ़ है। उनकी छन्द-योजना नई है और अपनी निजी है। भाषा और शैली दोनों पर उन्हें पूर्ण अधिकार है। अलंकार स्वाभाविक रूप में आते चले जाते हैं, कहीं भी ठूँसठाँस नहीं होती और न भाषा की रोचकता में कोई न्यूनता आने पाती है। व्याकरण की अशुद्धियों से भी उनकी भाषा बची हुई है।

विशेषता—दिनकर जी हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि हैं। उनकी कविता हृदय में वीर रस की सी हिलोर उठा देती है। उन्होंने भारत के अतीत का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया है कि अन्यत्र देखने में कठिनता से मिलेगा। उन्होंने अपनी रचनाओं से हिन्दी साहित्य कोष को भरा-पूरा कर दिया है। आपकी रचनायें ओजपूर्ण अधिक होती हैं। मधुरता अवश्य कुछ कम रहती है। कुरुक्षेत्र उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है।

'दिनकर' जी की कविताओं में देश-व्यापी जागरण का सन्देश है। उनकी कविता में अतीत के प्रति सहानुभूति और वर्तमान के प्रति असन्तोष है। वह कहते हैं:—

क्रान्ति धात्रि ! जाग उठ,
आडम्बर में आग लगादे।
पतन, पाप, पाखंड, जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगादे

'दिनकर' जी की कविताओं में गति है, विचारों में प्रौढ़ता है। इन्हें पढ़ते ही हमारा वीर भाव जाग उठता है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं

में एक प्रकार की तड़प है, वेदना है और हैं क्राँति की भावना। राष्ट्रीय भावनाओं को चित्रण करने में 'दिनकर' जी का गुप्त जी के पश्चात् दूसरा स्थान है। दूसरी प्रकार की रचनायें विश्व-कल्याण भावनाओं से भरी हुई हैं। वह विश्व को एक परिवार बना देने के पक्षपाती हैं। वह विश्व में शान्ति चाहते हैं, किन्तु क्रान्ति द्वारा। जिस तरह उन्हें अपने देश की परिस्थितियाँ व्याकुल कर देती हैं उसी प्रकार विश्व की परिस्थितियाँ भी उन्हें व्याकुल कर देती हैं।

यह स्वभाव से प्रकृति के लिए अपने हृदय में एक अनुराग रखते हैं। इसीलिए उनके प्रकृति-चित्रण बहुत सजीव हुए हैं। सारांश यह है कि उन्होंने अपने गीतों द्वारा देश को अपूर्व सम्पत्ति प्रदान की है, जो सदैव ही हिन्दी साहित्य को सम्पन्न बनाये रक्खेगी। उनका सन्देश जागृति की एक शंखध्वनि है। वह आशा का एक सन्देश है।

"जागरूक की जय निश्चित है,
हार चुके सोने वाले।"
"क्रान्ति-धात्रि कविते! जाग उठ,
आडम्बर में आग लगादे।"
"पतन, पाप पाखण्ड, जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगादे।"
"नव-युग-शंख,ध्वनि जगा रही;
तू जाग, जाग मेरे विशाल॥"

उनका हृदय समाज का हृदय है जो अपने बच्चों की दयनीय दशा देखकर तड़पने लगता है किन्तु फिर साहस बाँधकर स्वर्ग को भी ललकारने लगता है:—

"हटो पन्थ से मेघ, तुम्हारा स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
वत्स, वत्स, ओ वत्स, तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं॥"

कितनी सुन्दर एवं सहानुभूति-पूर्ण भावना है। इस प्रकार वह एक परिवर्तन चाहते हैं और वह परिवर्त्तन ऐसा हो जिससे भूखे नंगे भारत का भविष्य एक बार फिर बन जाय, वह पूर्ववत् ही सम्पन्न हो जाय। धन्य है कवि की ऐसी क्रान्तिकारिणी भावना को।

श्यामनारायण पाण्डेय

जीवन-परिचय—योग्य पुरुषों के, "आत्मा वे जायते पुत्रः" के आधार पर योग्य पुत्र ही उत्पन्न होते हैं, जैसे वृक्ष होता है तदनुकूल ही उसमें फल लगते हैं, इन लोकोक्तियों को चरितार्थ करते हुए श्री श्यामनारायणजी पाराडेय ने आजमगढ़ मराडलान्तर्गत 'डुमराँव' ग्राम निवासी परम धार्मिक, वैष्णव, संस्कृत भाषा के विद्वान् माननीय श्री रामाज्ञा जी पाराडेय के घर में विक्रमाब्द सम्वत् १९६७ में जन्म लिया।

प्रायः यह देखने में आता है कि लक्ष्मी एवम् सरस्वती की कृपा के भाजन सभी नहीं होते। ऐसी ही बात आपके सम्बन्ध में हुई। जिसके फलस्वरूप आपकी शिक्षा-दीक्षा ग्राम से ही आरम्भ हुई, किन्तु आपके पिताजी के विद्वान् होने के काररा आपकी रुचि देववाराी संस्कृत की ओर आकर्षित हो गई। वयस्क होने पर आप संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से भोले बाबा श्री विश्वनाथ जी महाराज एवम् श्री अन्नपूर्णा महारानी की नगरी वारारासी में आये जहाँ के सम्बन्ध में—

'चना चबैना गङ्गजल जो पुरवै करतार।
काशी कबहुँ न छोड़िए विश्वनाथ दरबार॥"

की लोकोक्ति प्रसिद्ध है। 'विश्वास फलदायकः' के आधार पर जो व्यक्ति इस पर विश्वास कर यहाँ विद्याध्ययन करते हैं, उन पर सरस्वती महारानी की कृपा हो ही जाती है।

आपने यहाँ आकर "गवर्नमेराट संस्कृत कालेज, बनारस" में अध्ययन किया और वहीं के छात्रावास में रहे। आपने शास्त्री, आचार्य परीक्षायें उत्तीर्रा कर उसी कालेज के सरस्वती-भवन पुस्तकालय में [illegible]

वर्ष तक अन्वेषण का कार्य किया। तत्पश्चात् आप काशी के माधव संस्कृत विद्यालय में प्रधानाध्यापक हो गए।

आरम्भ से ही आपकी रुचि कविता करने की थी। अतः एकान्त में बैठकर आप कविताएं किया करते थे। जब तब अवसर प्राप्त होने पर सहपाठियों के आग्रह से आप अपनी रचनाओं से श्रोताओं का मनोरंजन कर देते थे। आप उसी समय से "कविजी" के नाम से प्रख्यात हैं। जिसके फलस्वरूप आपने "त्रेता के दो वीर" एवम् "माधव" नामक पुस्तकें लिखकर प्रकाशित कराईं।

आप भगवद्भक्त, सरल स्वभाव एवम् परिश्रमी व्यक्ति हैं। छात्रावस्था में स्वास्थ्य ठीक न रहने से कभी आपको खेद भी होता था, किन्तु बाद में आपके अध्यवसाय से आपका स्वास्थ्य भी ठीक हो गया। जिस समय आप कविता सुनाते हैं उस समय आप काव्यगर्भित रस को पूर्णतया प्रकट कर देते हैं।

अपने कार्य में उत्तरोत्तर उद्योग करते रहने के फलस्वरूप आपको "हल्दीघाटी" काव्य पर देव पुरस्कार स्वरूप दो सहस्र मुद्रा प्रदान किए गये। वैसे तो आप अन्य रसों में भी रचनाएं करते हैं किन्तु वीररस को ही आपने विशेषतया अपनाया है, अतः "जौहर" तथा "हल्दीघाटी" से ही आप अमर एवं ख्याति प्राप्त कवि हुए।

रचनाएँ—पाण्डेय जी ने अभी तक जितने ग्रन्थ लिखे हैं उनकी सूची नीचे दी जा रही है। भविष्य में हिन्दी संसार उनसे बहुत बड़ी बड़ी आशायें लगाये बैठा है।

हल्दीघाटी, रिमझिम, आँसू के कण, जौहर, माधव तुमुल इत्यादि।

भाषा और शैली—पाण्डेय जी की भाषा शुद्ध, परिष्कृत एवं ओज पूर्ण खड़ीबोली है। उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने भावों के अनुकूल भाषा को ढाल लिया करते हैं। उनकी भाषा में सरसता है और है माधुर्य। प्रत्येक वाक्य एक चित्र चित्रित

करता हुआ मालूम होता है। भाषा में क्लिष्टता तो नाम-मात्र को नहीं आने पाती। बड़ी ही सरल और प्रवाह-पूर्ण भाषा में पाठक उनके भावों को हृदय में धारण करता हुआ बढ़ता चला जाता है। अलंकारों की ओर कवि ने व्यर्थ अनुराग प्रदर्शित नहीं किया। जो स्वाभाविक रूप में अलंकार आते हैं वह आते चले जाते हैं, कहीं पर किसी अलंकार को बरबस लाने के लिए भाषा या भाव की तोड़-मरोड़ नहीं मिलेगी। आपकी सैली भी अपनी निजी शैली है जो बड़ी रोचक और सरस है।

"मौन-मौन गिरि कहते हिल-मिल गाथा वीर जवानों की।
एक एक पत्थर कहता है करुण कथा बलिदानों की॥
तरु के पत्तों पर अङ्कित राणा की अमर कहानी है।
अब तक पथ से मिटी नहीं चेतक की चरण निशानी है॥"

उनकी भाषा में उतार-चढ़ाव है, गति है और ओज है जो पाठकों को श्रवण-मात्र से ही भाव-विभोर कर देता है।

"क्रीड़ा होती हथियारों से, होती थी केलि कटारों से।
असिधारा देखने को उँगली कट जाती थी तलवारों से॥
हल्दी घाटी का भैरव पथ रङ्ग दिया गया था खूनों से।
जननी पद अर्चन किया गया जीवन के विमल प्रसूनों से॥
अब तक उस भीषण घाटी के कण कण की चढ़ी जवानी है।
राणा, तू इसकी रक्षा कर यह सिंहासन अभिमानी है॥"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाण्डेयजी ने अपनी कविता में साधारण से साधारण किन्तु सन्तुलित शब्दों का प्रयोग किया है, तथा यत्र-तत्र एक दो उर्दू शब्दों का भी। उनकी भाषा अत्यन्त व्यावहारिक और टकसाली है।

पाण्डेय जी राष्ट्रीय युग के प्रधान कवि हैं। लोक प्रसिद्ध महाकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की भाँति आपने भी भारत के प्राचीन गौरव, तत्कालीन वीरता का प्रदर्शन कर "हल्दीघाटी" एवं 'जौहर' द्वारा भारतीयों की जागरण, सोत्साह एवं कर्तव्यपालन की ओर आकृष्ट

करने का प्रशंसनीय कार्य किया हैं।

कवि जी की भाषा खड़ी बोली है। जो ओज, प्रवाह, परिष्कृत, व्याकरण-सम्मत एवं रस तथा भावानुकूल है। आपकी रचना वीरता-पूर्ण भावों को व्यक्त करने में समर्थ एवं चित्ताकर्षक है। साथ ही श्रवण के समय श्रोताओं के मन में उत्साह का संचार कर देती है। उसमें सरसता एवं मधुरता का सुन्दर समन्वय भी है। अतः यह स्पष्ट है कि आप आधुनिक काल के वीर रस के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। रचनाओं के अतिरिक्त आपकी कविता-पठन की पद्धति अपूर्व एवं श्रवण-योग्य ही है। इसमें आपके रसानुकूल उपविशन एवं वक्तृत्व से जनता मन्त्र मुग्ध एवं प्रभावित हो जाती है। जिसके फलस्वरूप आपका हिन्दी काव्य संसार में विशेष समादर है।

"स्वतन्त्रता के लिए मरो, राणा ने पाठ पढ़ाया था,
इसी वेदिका पर वीरों ने, अपना शीश चढ़ाया था।
तुम भी तो उनके वंशज हो, काम करो कुछ नाम करो,
स्वतंत्रता की बलिवेदी है, झुक कर इसे प्रणाम करो॥"

वीर रस से पूर्ण एक उद्धरण और देख लीजिए :—

"जयमल ने जीवन दान दिया, पत्ता ने अर्पण प्राण किया।
कल्ला ने इसकी रक्षा में, अपना सब कुछ कुर्बान किया॥
सांगा को अस्सी घाव लगे, मरहम पट्टी थी आँखों पर।
तो भी उसकी असि बिजली सी, फिर गई छपाछप लाखों पर॥
अब भी करुणा की करुणकथा, हम सबको याद जबानी है।
राणा, तू इसकी रक्षा कर, यह सिंहासन अभिमानी है॥"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पांडेय जी खड़ी बोली के प्रसिद्ध वीर काव्य-कार हैं। भूषण के उपरान्त हिन्दी में वीर रस में स्फुट छन्द ही लिखे गये, किसी भी कवि ने काव्य नहीं लिखा। पाण्डेयजी ने इस कमी को पूरा कर दिया। उनकी "हल्दी घाटी" वीर रस की आधुनिक

सर्वश्रेष्ठ रचना है। कवि की लेखनी आज भी उसी दशा में बढ़ रही है। इस प्रजातन्त्र के युग में जब भारत स्वाधीन हुआ है, उसकी दीर्घ-कालीन शृंखलाएं भग्न हुई हैं, उनमें चिर-सुप्त स्वातन्त्र्य-भावनाओं को पुनः जाग्रत करने के लिए ऐसे ही वीर रस के काव्यालंकारों की आवश्यकता है जिससे उनकी चिर-सुप्त हृत्तन्त्री पुनः झंकृत हो उठे, वह स्वदेश-प्रेम, स्वदेश-भक्ति तथा "स्वराज्य" के वास्तविक महत्व को समझ सकें, साथ ही उसका अनुगमन भी कर सकें। देश को ऐसे कवियों की नितान्त आवश्यकता है। वास्तव में ऐसे ही महान् कवि युग-प्रवर्तक तथा उसमें एक नवीन धारा का संचार करने वाले कहे जाते हैं।

मैथिलीशरण गुप्त

जीवन परिचय—श्री मैथिलीशरण गुप्त का जन्म श्रावण शुक्ला द्वितीया चन्द्रवार सं० १९४३ को चिरगांव, जिला झाँसी में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री रामचरण जी था। श्री रामचरण जी को कविता से बहुत प्रेम था। वह स्वयं भी कविता करते थे। उनकी कवितायें भक्तिरस-पूर्ण होती थीं। उनका उपनाम 'कनकलता' था। राम के विष्णुत्व में उनका अटल अनुराग था। इसलिये उनके गीत प्रायः राम-भक्ति के हुआ करते थे। वैश्य होने के कारण उनके यहाँ व्यापार भी होता था। व्यापारिक लेन देन में भी वह बहुत दक्ष थे।

गुप्त जी के चार भाई और हैं जिनमें श्री सियारामशरण भी एक कवि हैं। शेष तीन भाई व्यापार करते हैं।

गुप्तजी प्रारम्भ में अङ्गरेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिये झाँसी गये पर वहाँ उनका मन नहीं लगा अतः घर लौट आये। घर पर सेठजी ने उनको शिक्षा दिलाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। सेठजी के प्रभाव से इनके हृदय में काव्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। जिस कापी पर सेठजी कविता लिखा करते थे उसी पर एक दिन गुप्त जी ने एक छप्पय लिख दिया। सेठजी ने जब कापी कविता लिखने के लिए उठाई तो उस पर एक नया छप्पय देखकर चकित रह गये। लेख गुप्त जी का था। इसलिये उन्हें यह पहिचानने में विलम्ब न हुआ कि छप्पय गुप्तजी का ही लिखा हुआ था। उन्होंने छप्पय पढ़कर आशीर्वाद दिया कि तुम भविष्य में अच्छे कवि होगे। उन्हीं के आशीर्वाद से गुप्तजी वास्तव में अच्छे कवि हुए। गुप्तजी प्रारम्भ में जो कवितायें लिखते थे, वह कलकत्ते के एक सामाजिक पत्र में प्रकाशित होती थीं। बाद में द्विवेदी जी के सम्पर्क में आने पर उनकी कवितायें 'सरस्वती' में प्रकाशित होने

लगीं। यहीं से गुप्तजी के साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश होता है। द्विवेदी जी ने गुप्त जी की काव्य प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी रचनाओं को शुद्ध कर दिया। इससे गुप्तजी को बड़ा उत्साह मिला। उस समय इनकी कवितायें बड़े आदर के साथ पढ़ी जाने लगीं थीं। साकेत उनका महाकाव्य है जो मंगलाप्रसाद पारितोषिक से विभूषित हो चुका है।

रचनाएँ—गुप्तजी की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। अनूदित रचनाओं में कुछ काव्य और कुछ नाटक हैं। विरहिणी ब्रजाँगना बंगाली कवि माइकेल मधुसूदन की रचना का हिन्दी अनुवाद है। 'मधुप' उपनाम से उन्होंने वीरांगना, मेघनाद-वध तथा प्लासी का युद्ध का बंगला से अनुवाद किया है। उमर खय्याम की रुबाइयों का अनुवाद भी हिन्दी रूप में किया है। संस्कृत के नाटककार भास के स्वप्नवासवदत्ता का भी उन्होंने अनुवाद किया है। अनघचन्द्रहास और तिलोत्तमा उनके पद्य बद्ध रूपक हैं। मौलिक काव्य ग्रन्थों में, रंग में भंग, जयद्रथ बध, पद्य प्रबन्ध, भारत भारती, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, पद्यावली, किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश संगीत, गुरु तेग बहादुर, हिन्दू, शक्ति, सैरंध्री, बन-वैभव, बक-संहार, झंकार और साकेत की गणना की जाती है। यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज और नहुष, साकेत के बाद के प्रकाशन हैं। इनके अतिरिक्त विकटभट, मौर्य-विजय, मंगल घट, त्रिपथगा और गुरुकुल भी उनके काव्य-ग्रन्थ है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि गृप्त जी ने साहित्य कोष को सदैव अपनी कृतियों से भरा है। आज अपनी बृद्धावस्था में भी वह निरन्तर साहित्य-सेवा में लगे हुये हैं।

भाषा—गुप्तजी की भाषा खड़ी बोली है, इस पर इन्हें पूरा पूरा अधिकार है। उनकी भाषा उन सभी दोषों से मुक्त है जो भारतेन्दु के समकालीन कवियों में आ गये थे। सरस्वती में प्रकाशित होने वाली प्रारम्भिक कविताओं में कहीं-कहीं तद्भव शब्द आ गये हैं, पर प्राधान्य

तत्सम् शब्दों का ही हैं। गुप्त जी की भाषा में क्रम-क्रम से विकास होता गया है। भारत भारती में जो कर्कशता अथवा रूखापन है वह पंचवटी तक पहुँचते पहुँचते समाप्त होता है। भाषा के, संस्कार में उन्हें द्विवेदी जी से बड़ी सहायता मिली हैं। इसलिए हम उनकी भाषा पर द्विवेदी जी का प्रभाव पाते हैं। परन्तु यह प्रभाव उनके ऊपर द्विवेदी युग तक ही रहा। नवीन युग आने पर उनकी भाषा में भी नवीनता आ गई। गुप्तजी की कविता पर संस्कृत का भी प्रभाव है किन्तु उस सीमा तक नहीं जिस सीमा तक 'प्रियप्रवास' में दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनकी भावना और विचारों का संस्कृत साहित्य से घनिष्ट सम्बन्ध हैं। भाषा में यत्र तत्र कुछ शब्द अव्यावहारिक भी आ गये है। कुछ शब्दों का उन्होंने संस्कृत व्याकरण के अनुसार निर्माण भी किया है। गुप्त जी की भाषा पर प्रान्तीयता का भी प्रभाव पड़ा है। उर्दू भाषा के शब्द प्रायः नहीं मिलते जो दो चार मिलते हैं वह भी तुकबन्दी के लिए लाए गये हैं। वाक्य पूरे और सुलझे हुए है। नाटकों में सम्वादों की भाषा पर अङ्गरेजी भाषा का प्रभाव पड़ा है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी हुआ है। कथोपकथन की स्पष्टता में, वाद-विवाद में, बाह्य दृश्य चित्रण में उनकी भाषा ठीक भावों के अनुकूल चलती है।

गुप्तजी की भाषा में यह सबसे बड़ विशेषता है कि वह सर्वत्र, भाव, पात्र और प्रसङ्ग के अनुसार चलती है।

"स्वयं सुज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते।
सखि वे मुझसे कह कर जाते ?"

"जल निर्मल, पावन पराग सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़ दिव्य बना है मेरा।
प्रहरी निर्भर, परिखा प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया॥"

हा ! ठहरो, बस, विश्राम प्रिये, लो थोड़ा,
हे राज लक्ष्मि, तुमने न राम को छोड़ा।

\+ + × ×

"ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको,
हैं मधुप ढूँढ़ता तथा मनोज्ञ कुसुम को।
वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा—
मेरा विनोद तो सकल—हँसी तुम आहा॥

कितनी सुन्दर भाव व्यंजना है। शब्द सरल हैं, किन्तु भावपूर्ण हैं, तथा हृदय को आकर्षित करने वाले हैं।

उर्मिला के शुक से संभाषण करने के समय लक्ष्मण के व्यङ्ग विनोद का चित्र कितना सुन्दर अङ्कित किया है—उर्मिला कीर से चुप रहने का कारण पूछती है, लक्ष्मण उसी समय उपस्थित होते हैं।

यथा— पार्श्व से सौमित्रि आ पहुँचे तभी,
और बोले "लो बता दूँ मैं अभी।
नाम का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दामिड़ का समझकर भ्रांति से।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता हैं, अन्य शुक यह कौन है।

इसी प्रकार परस्पर वाग्विलास का वर्णन इस सर्ग में हुआ। द्वितीय सर्ग में मन्थरा कैकयी की बुद्धि फेरकर वरदान माँगने का प्रयत्न करती है, पहले तो कैकेयी ध्यान नहीं देती,: किन्तु बाद में निम्नकथन हृदयङ्गम हो जाता है।

"भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उन्हें ज़ो गेह।"

यद्यपि कैकेयी ने मन्थरा को भर्त्सना दी तथापि उपर्युक्त पंक्ति पुनः उसे दोलायमान करने लगती है।

गूँजते थे रानी के कान, तीर सी लगती थी वह तान।
भर से ....उन्हें जो गेह ॥
इसी के फलस्वरूप मंथरा की विजय हुई और—
भरत की माँ हो गई अधीर क्षोभ से जलने लगा शरीर....।
तोड़कर फेंके सब शृंगार, अक्षुमय से थे मुक्ताहार॥
अन्त में कवि ने खिन्न दशरथ से इस भांति कहलवा दिया :—
"मरो तुम क्यों भोगो अधिकार। मरूँगा तो मैं अगति समान॥
मिलेंगे तुम्हें तीन वरदान :—
देख ऊपर को अपने आप लगे नृप करने यों परिताप....।

जिस समय सुमंत्र अरण्योचित वल्कल वसन लाकर उपस्थिति करते हैं और सीता जी उनको पहनना चाहती हैं उस समय का कैसा हृदय विदारक दृश्य कवि ने उपस्थित किया है।

"बहू बहू" माँ चिल्लाई, आखें दूनी भर आईं।
हाथ हटा, ये वल्कल हैं, मृदुतम तेरे करतल हैं।
यदि ये छू भी जावेंगे तो छाले पड़ आवेंगे।
कौशल वधू विदेह लली, मुझे छोड़कर कहाँ चली॥

राम के मना करने पर भी सीता बन चलने का आग्रह करती है। उर्मिला भी वहाँ सुमित्रा के साथ आ जाती है। तत्कालीन सीता एवं उर्मिला के सम्बन्ध में कैसी उक्ति है :—

सीता और न बोल सकीं, गद्गद् कण्ठ न खोल सकीं।
उधर उर्मिला मुग्ध निरी-कहकर 'हाय' धड़ाम गिरी॥
लक्ष्मण ने दृग मूद लिये, सब ने दो दो बूँद दिये।
कहा सुमित्रा ने "बेटी! आज यहीं पर तू लेटी॥"

परस्पर बहनों में कितना सौहार्द था—

"बहन-बहन" कह कर सीता करने लगी व्यजन सीता।

आज भाग्य जो है मेरा, वह भी हुआ न हा तेरा॥

राम भी वन में लक्ष्मण की तपस्या को देखकर उनसे कहने लगते है :

लक्ष्मण तुम हो तपस्पृही, मैं बन में भी रहा गृही।
बनवासी हे निर्मोही, हुए वस्तुतः तुम दोही॥

अन्त में कैकेयी की पश्चातापयुक्त वाणी का भी दिग्दर्शन किस चातुर्य से कराया है :—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी
निज जन्म २ में सुनें जीव यह मेरा,
"धिक्कार' उसे था महा स्वार्थ ने घेरा॥

रामचन्द्र जी के सम्बन्ध में भी प्रश्न करने की कैसी पद्धति अपनाई है।

राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या?

फिर राम के सम्बन्ध में ब्रह्म भावना भी प्रकट करदी।
हो गया निर्गुण सगुण अवतार है। ले लिया सर्वांश ने अवतार है॥

राम लक्ष्मण के लौटने पर सखी द्वारा शृंगार करने के आग्रह पर उर्मिला की उक्ति कितनी विचित्र है :—

"हाय सखी, शृंगार ? मुझे अब भी सोहेंगे?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे?
नहीं नहीं प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूँ मैं नाथ मुझे वैसा ही पावें।"

आप समन्वयवादी दृष्टिकोण के हैं। आपकी रचनाओं में नवीनता, नवीन आदर्श, नवीन छन्द शैली, संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा का दृष्टिकोण और भारत-उत्थान भावना ओत-प्रोत है, राष्ट्रीयवाद, साम्यवाद, छायावाद, मर्यादा, मानवता, उपयोगिता सभी पर आपका समानाधिकार है अतः आप अपने समय के प्रतिनिधि कवि हैं।

आपकी भाषा सरल, मधुर, व्याकरण-सम्मत एवं साहित्यिक गुणों से (माधुर्य ओज प्रसाद) से परिपूर्ण, प्रवाहमय रसानुकूल तथा संस्कृत-गर्भित होते हुए भी अधिक क्लिष्ट नहीं है। इसी कारण आपकी रचना हिन्दी जगत को मान्य एवं रुचिकर है।

उनके स्वर्ग संगीत की कुछ पंक्तियाँ और देख लीजिए:—

"महा साधना क्षेत्र संसार है।
मनुत्यत्व ही मुक्ति का द्वार है।"
"यहाँ कल्पवृक्ष स्वयं हैं हमीं,
करें यत्न तो है हमें क्या कमी
भरा कीर्ति से ही सुधा सत्व है,
मनुष्यत्व ही दिव्य देवत्व है॥"

इस प्रकार उन्होंने घड़ाम, छीटना, भीमना आदि साधारण से साधारण शब्दों का भी प्रयोग किया है।

"राजा प्रजा का पात्र है, वह एक प्रतिनिधि मात्र है।
यदि वह राजा पालक नहीं, तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुने, जो सब तरह सबकी सुने।
कारण, प्रजा का ही असल में राज्य है।"

अत: संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि गुप्त जी की भाषा अत्यन्त शिष्ट, संयत और प्रौढ़ है।

शैली—गुप्तजी काव्य क्षेत्र में सब कुछ हैं। वे प्रबन्धकार हैं, गीतिकार हैं और नाटकार। अतः उनकी शैली भी उसी के अनुरूप चली है। अतएव प्रबन्ध शैली, गीत शैली और नाट्य शैली। गुप्तजी के अधिकांश काव्य प्रबन्ध शैली के अन्तर्गत आते हैं। रंग में भङ्ग, और 'जयद्रथ वध' इसी शैली में लिखे गये हैं। गुप्तजी जीवन की प्रत्येक परिस्थिति से भली-भांति परिचित हैं, इसलिए उसमें वह पूर्ण सफल होते हैं।

उपदेशात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने हिन्दू, गुरूकुल और भारत भारती में किया है।

गीत-नाट्य शैली में नाटकीय प्रणाली का अनुसरण किया है। गीति काव्यात्मक शैली में झंकार आता हैं जिसमें प्राचीन और आधुनिक दोनों शैलियों के ढंग पर गीत लिखे हैं।

गुप्तजी की शैली प्रभावोत्पादक, संयत, गम्भीर, प्रसाद, माधुर्य और ओज से परिपूर्ण है। उनकी शैली में विशेष आकर्षण है जिसके द्वारा उनकी शैली अलग से पहचानी जा सकती है।

विशेषता—'कला कला के लिए है' इस उद्देश्य पर गुप्तजी ने रचनाएँ नहीं की हैं। उनकी प्रत्येक रचना किसी न किसी उद्देश्य को लेकर हुई है। उनका लक्ष्य सदैव मानव-कल्याण का रहा है। वास्तव में मानव का कल्याण इसी में है कि वह पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करे। साकेत में भगवान राम कहते हैं।

'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

दूसरी विशेषता उनका समाजवाद है। व्यक्तिवाद को उन्होंने कितनी करारी चोट दी है यह उनके साहित्य से स्पष्ट है। अछूतोद्धार के प्रति उनकीं चोट कितनी बड़ी सहानुभूति है—

इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं यह भी तो प्राणी।
इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

हिन्दी मुस्लिम ऐक्य पर उन्होंने बड़े गम्भीर विचार प्रकट किए हैं। विधवा-विवाह का समर्थन करते हुए वह कहते हैं—

तुम बूढ़े भी विषयासक्त, बनी रहें वे किन्तु विरक्त,
वे जो निरी बालिका मात्र, अस्पर्शित है जिनका गात्र ?
आप बनो विषयों के दास, वे अभागिनी रहें उदास।

गुप्तजी ने सामाजिक कुरीतियों की ओर भी ध्यान दिया है। उन पर भारतीय संस्कृति का पूर्ण प्रभाव है। वह राम-कृष्ण-बुद्ध संस्कृति के

आधार की मर्यादा पर मर्यादावाद-कर्मवाद तथा अहिंसावाद का पाठ पढ़ाना चाहते हैं साथ ही समाजवाद के आधार पर विश्वबंधुत्व की भावना भी जाग्रत करना चाहते हैं। वह छुआछूत को भी समूल मेटना चाहते हैं।

"इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी।"
इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु नहीं वैसी वाणी॥
"तुम बूढ़े भी विषयासक्त, बनी रहें वे विरक्त
वे जो निरी बालिका मात्र, अस्पर्शित है जिनका गात्र ?
आप वनो विषयों के दास, वे अभागिनी रहें उदास॥"

सामाजिक भाषा के ऐसे विचार गुप्त जी की प्रत्येक रचना में मिलते हैं। इस प्रकार वह हिन्दू-समाज का सुधार करना चाहते हैं।

अब उनकी राष्ट्रीय भावना को लीजिए। समस्त साहित्य राष्ट्र प्रेम में डूबा मिलेगा। राष्ट्र हित के लिए कितने दृढ़ कर्तव्य का वह आदेश देते हैं।

न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दराड देना धर्म है।

बक संहार में पाराडव-पति के शब्दों को देखिये :—

कौरवों ने जो अत्याचार किए हैं हम पर बारम्बार।
करेंगे उनका हमी विचार, नहीं औरों पर इसका भार।
क्रूर कौरव अन्यायी हैं, हमारे फिर भी भाई हैं !

× × ×

जहाँ तक है आपस की आँच वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच गिने तो हमें एक सौ पाँच।
कौन हैं वे गन्धर्व गँवार, करें जो आकर यह व्यवहार।

गुप्त जी के काव्य में चित्रात्मक प्रणाली भरी पड़ी हैं। जितने सजीव चित्र गुप्त जी ने चित्रित किए हैं अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

चारु चंद्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अंबरतल में।

गुप्तजी का अलंकारात्मक चित्रण कितना सजीव हुआ है, निम्न पंक्तियों में देखिए :—

रत्नाभरण भरे अङ्गों में ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल बल्ली पर सौ-सौ जुगुनू जगमग करते थे॥

उपदेशात्मक प्रणाली का प्रयोग उन्होंने उस समय किया है जब वह प्रकृति द्वारा कोई शिक्षा दिलाना चाहते हैं।

छोड़ मर्यादा न अपनी वीर धीरज धार,
क्षुब्ध पारावार मेरे क्षार पारावार।

गुप्त जी सगुणोपासक वैष्णव हैं इसलिए उनका रहस्यवाद भी सगुणोपासना का स्वर अपने हृदय में छिपाये हुए है।

सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
आप बन्ध्य हूँ, आप खुलूँ मैं, तू न बीच में बोल।

अतएव हम संक्षेप में कह सकते हैं कि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने मानवता के लिए एक सन्देश दिया है जिसके अनुसरण से भारत का ही नहीं अपितु समग्र विश्व का भी कल्याण हो सकता है। उनकी समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा, देश-सेवा समग्र विश्व के लिए एक आदर्श है। "त्याग और अनुराग चाहिए बस यही" सच्ची देश सेवा के लिए पर्याप्त उपकरण है। अपनी इस सेवा के साथ ही वह सामाजिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों का सफलता के साथ समन्वयीकरण करने में लगे हुए हैं। उन्होंने भारतीय प्राच्य संस्कृति का अभूतपूर्व-चित्रण किया है। उनका यह कार्य सर्वथा मौलिक है, इसी से विशेष महत्त्वपूर्ण भी है।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि गुप्तजी अपनी कविता में भाषा की सुव्यवस्था, प्राचीन भावों और आदर्शों की रक्षा एवं नवीन विचारों तथा भावनाओं की स्पष्ट, मनोरम और प्रभावशालिनी योजना में सबसे अधिक सफल हुए हैं। उनकी रचनाओं में वर्तमान युग की प्रायः सभी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन हुआ है। इसी से वे युग के साथ

सर्वाधिक घुल मिल गई हैं। उनमें युग का प्रतिबिम्ब पूर्णतया झलकता है। उनमें सामञ्जस्यवादी भावनाएँ भी पूर्ण मात्रा में हैं। उनमें एक ओर तो देश-प्रेम की उच्चतम भावनाएँ हैं, तो दूसरी ओर नवयुग की सभी भावनाएं अपने सच्चे रूप में विद्यमान हैं। इसी से वह इस युग के एकमात्र प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र

जीवन-परिचय—परिडत प्रतापनारायण मिश्र का जन्म कान्य-कुब्ज परिवार में उन्नाव जिले के बैंजे ग्राम में आश्विनी कृष्णा ६ संवत् १९१३ विक्रमी को हुआ था। परिडत संकटाप्रसाद उनके पिता थे। वह अपने समय के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। वह अपने पुत्र को भी ज्योतिषी बनाना चाहते थे, किन्तु जब उनकी रुचि इस ओर न लगी, तो विवश होकर उनके पिता ने उन्हें अँग्रेजी के आधार पर शिक्षा देने का निश्चय किया, किन्तु किसी भी स्कूल में उनका मन नहीं लगा। पढ़ने लिखने में ऐसी अनभिरुचि देखकर स्कूल में के अध्यापकगण भी इनसे रुष्ट रहा करते थे। अन्त में उन्होंने स्कूल छोड़ ही दिया। इसके कुछ ही दिन पश्चात् इनके पिता का भी स्वर्गवास हो गया। अतएव इनकी शिक्षा की यहीं पर इतिश्री हो गयी। इसके उपरान्त इन्होंने घर पर हीं उर्दू फारसी और संस्कृत का भी अभ्यास कर लिया।

मिश्रजी में बचपन से ही, भावुकता थी, किन्तु शिक्षा के ठीक न होने के कारण उनका विकास समुचित रूप से न हो सका। वह प्रारंभ से ही कविता-प्रेमी थे। वह समय भारतेन्दु युग का था। अतएव उससे इनका भी प्रभावित होना स्वाभाविक था। उसी समय बनारसीदास और ललितप्रसाद ने अपनी लावनियों की धाक सर्वत्र जमा दी। मिश्रजी पर इसका भी प्रभाव पड़ा। वह छन्द रचना करने लगे, श्री ललितप्रसाद जी ने उन्हें काव्य-छन्द सम्बन्धी विशेष नियम विधान की भी समुचित शिक्षा दी। उन्हीं के पथ प्रदर्शन में मिश्रजी सुन्दर काव्य रचना भी करने लगे।

मिश्र जी सम्पादक भी थे। इनकी ओर बाल्यावस्था से ही उनकी

प्रवृत्ति थी। अपने मित्रों की सहायता से उन्होंने "ब्राह्मण" नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित की, इसके उपरान्त संवत् १८८६ विक्रमी में वह कालाकाँकर से प्रकाशित होने वाले "हिन्दी हिन्दोस्थान" के सहकारी सम्पादक के स्थान पर काम करने लगे किन्तु अधिक समय तक इस कार्य को न चला सके। इन सभी बातों से उनकी साहित्य-सेवा-भावना स्पष्ट हो जाती है। उनके विषय में इतना और कह देना आवश्यक है कि वह प्रारम्भ से ही आलसी थे और हास्य विनोदी थे। इसीसे उन्हें अपने स्थान की स्वच्छता का भी ध्यान नहीं रहता था। वह आर्य समाज, तथा ब्रह्म समाज आदि में भी सम्मिलित हुआ करते यही नहीं कांग्रेस से भी उन्हें विशेष अनुराग था। वह गोरक्षा के भी विशेष पक्षपाती थे। संवत् १९६१ विक्रमी में उनका देहावसान हो गया।

रचनाएँ—मिश्रजी अपने समय के एक अच्छे साहित्यकार थे। उन्होंने कई मौलिक पुस्तकें लिखीं, तथा कुछ का अनुवाद भी किया, किंतु साहित्यिक दृष्टि से इस समय उनका अधिक महत्त्व नहीं है।

अनूदित रचनाएँ—राजसिंह, राजधानी, कथामाला संगीत, शकुन्तला, सेनवंश इत्यादि।

मौलिक रचनाएँ—(नाटक) कलिप्रभाव, हठी हमीर, गो संकट, भारत दुर्दशा, कलि कौतुक।

काव्य ग्रन्थ—लोकोक्ति शतक, शृंगार विलास, प्रेम पुस्पावली, सर्वस्य, मानस विनोद, मन की लहर आदि।

भाषा शैली—मिश्रजी की भाषा अत्यन्त सरल और सुबोध है। उसमें ग्रामीणता भी पर्याप्त मात्रा में है। वह भारतेन्दु युग की विकासोन्मुखी धारा में अवतीर्ण तो हुए थे, किन्तु शिक्षा के अभाव में उस भाव लहरी में अवगाहन न कर सके। यही कारण है कि उनकी भाषा में तद्भव परिष्कार भी नहीं हुआ है। इतना अवश्य है कि उनका भाव

प्रवाह रोचक है, साथ ही कुछ चुटीलापन भी लिए हुए है। उर्दू मिश्रित हिंदी का एक उदाहरण देख लीजिए :—

"हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने स्तीफा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि 'अ'प लफ्जे-फारसी या अरबीस्त'' अथवा 'ओह इटिज इन इंगलैन्ड वर्ड'' (Oh it is an England word)। जब यह नहीं है तो खाहमखाह यह हिन्दी शब्द है, पर कुछ सिर-पैर मुंहगोड़ भी है कि यों हीं ?.... "

"खैर, जो कुछ रह गया है उसीके रखने का यत्न करो, पर अपने ढंग से, न कि विदेशी ढंग से। स्मरण रखो जब तक उत्साह के साथ अपनी रीति-नीति का अनुसरण न करोगे तब तक कुछ न होगा। अपनी बातों को बुरी दृष्टि से देखना पागलपन है। रोना निस्साहसों का काम है, अपनी भलाई बुराई अपने हाथ से ही हो सकती है। माँगने पर नित्य कोई डबल रोटी का टुकड़ा भी न देगा। इससे अपना पन मत छोड़ो। कहना मान जाव, आज होली है।

उनकी भाषा में पण्डिताऊपन तथा पूर्वीपन अधिक है! उसमें ग्रामीण शब्दों का भी अधिक प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं पर तो उन्होंने ऐसे अप्रचलित शब्दों तक का प्रयोग किया है जो भाव-स्पष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हैं। उन्होंने अपने मत को पुष्टि के लिए लोकोक्तियों, मुहावरों, यहाँ तक कि संस्कृत पंक्तियों तक का प्रयोग किया है। इससे उनकी भाषा में एक प्रकार की चित्ताकर्षक शक्ति आजाती है जो सभी प्रकार की रचनाओं की प्राण है। इसीसे उनके अत्यन्त साधारण से साधारण विषय भी अत्यन्त सरस एवं चित्ताकर्षक हो गये हैं।

"आखिर एक दिन मरना है और "मूंदि गई आखें तब लाखें कहि काम की।'' यदि हम ऐसा समझ कर सबसे सम्बन्ध तोड़ दें तो सारी पूंजी गंवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें।

"अगले लोग कह गये हैं कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति कुश-

लता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।"

"सच है! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाये हुए भव में जो कुछ है, भ्रम ही है। जब तक भ्रम हैं तभी तक संसार का स्वामी भी तभी तक है, फ़िर कुछ भी नहीं॥"

"हम तो उनको जै जै काय मनावेंगे जो अपने देशवासियों से दाँत काटी रोटी का वर्ताव रखते हैं। परमात्मा करे कि हर हिन्दू-मुसलमान का देशहित के लिए चाव के साथ दाँतों पसीना आता रहे। इससे बहुत कुछ नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त कर रक्खा है कि—

'कायर कपूत कहाय, दाँत दिखाय भारत तम हरौ।"

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि साहित्य साधना की दृष्टि से मिश्रजी का स्थान विशेष महत्व है, उन्होंने भारतेन्तु बाबू हरिश्चन्द्र के हिन्दी-साहित्य-विकास कार्य को और भी आगे बड़ाया। उनके विषय में इतना और कहा जाता है कि "जिस विदग्ध साहित्य के लिए पण्डित बालकृष्ण भट्ट जी का नाम लिया जाता है उसके एक अंग की पूर्ति पण्डित प्रताप नारायण मिश्र द्वारा भी हुई। इनके निबन्ध भावात्मक कोटि में आते हैं।' इतना अवश्य है कि वह अपनी भाषा को स्थिर करने में अधिक सफल न हो सके। 'यदि भारतेन्दु ने निबन्ध का शिला न्यास किया है तो भट्टजी ने उसे नागरिक और साहित्यिक समाज की विनोद सामग्री बनाया और पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने उसकी सीमा व्यापक बनाकर ग्रामीण जनता के हृदयों तक उसकी पहुँच कर दी।"

बालकृष्ण भट्ट

जीवन परिचय—पण्डित बालकृष्ण भट्ट का जन्म संवत् १६०१ विक्रमी में प्रयाग में हुआ था। भट्ट जी के पिता श्री बेणीप्रसाद जी ने उनकी शिक्षा दीक्षा की प्रारम्भ से ही समुचित व्यवस्था करदी थी। इधर भट्ट जी भी प्रारम्भ से ही अध्ययनशील थे। अपने यहाँ के मिशन स्कूल में उन्होंने एन्ट्रेन्स तक अंगरेजी पढ़ी, और घर पर संस्कृत का अध्ययन किया। कुछ समय उपरान्त वह जमुना मिशन स्कुल में संस्कृत-अध्यापक हो गये। किन्तु वहाँ का ईसाई वातावरण अपनी धार्मिक भावनाओं के विपरीत देखकर उन्होंने स्कूल छोड़ दिया। विवाह हो जाने के उपरान्त वह व्यापार करने के लिए कलकता चले गये, किंतु कुछ ही दिनों के पश्चात् वहाँ से लौट आये और साहित्य-आराधना में अपना समय बिताने लगे और जीवन-पर्यन्त इसी सेवा ब्रत में लगे रहे।

प्रयाग के कुछ शिक्षित नवयुवकों के सहयोग से सन् १८७७ ई० में "हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन हुआ। भट्ट जी ने इसके प्रकाशन में सबसे अधिक सहयोग दिया, यहाँ तक कि जब तत्कालीन नवीन प्रेस ऐक्ट से भयभीत होकर अन्य साथियों ने उसका साथ छोड़ दिया, तो भट्ट जी ने अकेले ही उस गुरु भार को उठाया और ३२ वर्ष तक सफलता पूकर्व उसका संपादन करते रहे। इस प्रकार भट्टजी हिन्दी के प्रमुख लेखक एवं संपादक थे। उन्होंने कुछ समय तक कायस्थ पाठशाला में संस्कृत अध्यापक के स्थान पर भी काम किया। वहाँ से विरत हो जाने से उन्हें आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा जिसके फलस्वरूप "हिन्दी प्रदीप" का भी मार्ग अवरुद्ध हो गया। उन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी

सभा के "हिन्दी शब्द-सागर' का भी कुछ समय तक सम्पादन किया, किन्तु अस्वस्थता के कारण यह काम भी उन्हें छोड़ना पड़ा। उनकी बीमारी बढ़ती गयी। संवत् १९७१ विक्रमी में उनका स्वर्गवास हो गया।

रचनाएं—भट्ट जी ने अपना अधिकांश समय 'प्रदीप' के संपादन में ही लगाया। इसीसे उनकी अधिक रचनाएं नहीं दिखलाई पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त उनकी प्रसिद्ध रचनाएं इस प्रकार हैं:—

'सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी, कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह नाटक, भाग्य की परख, जैसा काम वैसा परिणाम, आचार विडंबना, साहित्य सुमन आदि। उन्होंने पद्मावती और शर्मिष्ठा नाम के दो नाटक भी लिखे हैं। उनके निबन्धों का संग्रह भट्ट निबन्धावली' में हुआ है, जो साहित्य सम्मेलन प्रयाग से दो भागों में प्रकाशित हुई है। इसके साथ हीउन्होंने षट्-दर्शन-संग्रह का भाषानुवाद भी किया है।

भाषा शैली—भारतेन्दु युग के प्रमुख लेखकों में भट्ट जी तथा मिश्र जी का स्थान विशेष महत्व का है। इन्होंने साहित्यिक निबन्ध लिखकर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के कार्य को और भी आगे बढ़ाया। भट्टजी के निबन्धों में मिश्रजी की अपेक्षा साहित्यिकता अधिक है। उनमें दार्शनिकता है तथा अपने व्यक्तित्व की छाप है। इसीसे उनकी तुलना अंगरेजी के प्रसिद्ध लेखक लैम्ब से की जाती है। उनकी भाषा सरल, सरस एवं भावानुकूल है। वह मिश्रजी की भाषा की अपेक्षा परिमार्जित भी अधिक है। वह शिष्ट तथा संयत है। संस्कृत उर्दू फारसी आदि के अच्छे ज्ञाता होने के कारण वह दो धाराओं में विभक्त हो गयी हैं एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राधान्य है तो दूसरी ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ साथ उर्दू फारसी, तथा अंगरेजी शब्दों का भी मिश्रण हुआ है।

"वात्सल्य रस की शुद्ध मूर्ति माता के सहज स्नेह की तुलना इस

जगत में—जहाँ केवल अपना स्वार्थ ही प्रधान है—कहीं ढूंढ़ने से भी न पाइएगा।"

"सौतेली माँ 'सुरुचि' के बज्रपात सदृश वाक प्रहार से ताड़ित और पिता की अवज्ञा और निरादर से अत्यन्त संतापित ध्रुव को जब वह केवल पाँच वर्ष के बालक थे, सुनीति देवी का एक बार का प्रोत्साहन ध्रुव पद की प्राप्ति का हेतु हुआ, जिसके समान उच्च और स्थिर पद आज तक किसी को मिला ही नहीं।"

"माँ में पिता के समान प्रत्युपकार की वासना भी नहीं है, दया मनों देह धरे सामने आकर खड़ी हो जाती है।" "कहाँ तक गिनावें, संपूर्ण भारत-का-भारत इसी कल्पना के पीछे भारत हो गया जहाँ कल्पना (Theory) के अतिरिक्त करके दिखाने योग्य (Practical] कुछ रहा ही नहीं। योरप के अनेक वैज्ञानिकों की कल्पना को कर्तव्यता (Practical) में परिणत होते देख यहाँ वालों को हाथ मल-मल पछताना और कल्पना पड़ा।"

भट्ट जी में भी कहीं-कहीं पर उपदेश देने की प्रवृति दिखलाई पड़ती है। एक उदाहरण देख लीजिए।

"प्रिय पाठक ! यह कल्पना बुरी बला है। चौकस रहो, इसके पेच में कभी न पड़ना, नहीं तो पछताओगे। आज हमने भी इस कल्पना की कल्पना में पड़ बहुत सी झूठी झूठी कल्पना कर आपका थोड़ा सा समय नष्ट किया, क्षमा करिएगा।"

(भट्ट जी ने मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग किया है। इससे उनकी भाषा की सरसता और भी अधिक बढ़ जाती है।) कहीं कहीं पर तो उन्होंने मिश्रजी के ही समान मुहावरों की झड़ी लगादी है। इस विषय में आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं।

"एक बार वह मेरे घर पधारे थे। मेरा छोटा भाई आँखों पर हाथ रखे उन्हें दिखाई पड़ा। उन्होंने पूछा भैया ! (आँख में क्या हुआ है ?" उत्तर मिला—"आँख आई है।") वे चट बोल उठे "भैया ! यह आँख बड़ी बला है। इसका आना जाना, उठना, बैठना, सब बुरा है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह जनता के मन को अपनी ओर आकर्षित करना चाहते थे। संभवत: इसीसे उन्होंने अपने निबन्धों के शीर्षक भी ऐसे ही रक्खे हैं यथा कुँआर के दस दिन, ईश्वर की क्या ठठोल है ? मानवी संपति, हमारे मन की मधुपवृत्ति, नाक निगोड़ी भी बुरी बला है, भकुआ कौन कौन है ? संसार कभी एकसा न रहा, आँसू, माँगी रोटी मिला पत्थर, बातचीत आदि। इनमें उन्होंने अंगरेजी के शब्द intellect. speech, philosophy, art of conversation, character शब्द भी बड़े अच्छे ढंग से प्रयुक्त किए हैं। कहा यह जाता है कि निबन्ध लिखते समय एक ओर तो वह अपने देश के ही नहीं अपितु भिन्न देशीय भाषा विशारदों के लेखों का भी ध्यान रक्खा करते थे। इसीसे उनकी रचनाओं में एक ओर तो कालिदास, भवभूति, बिहारी आदि की छाप है तो दूसरी ओर मैकाले, जानसन, एडीसन आदि पाश्चात्य विद्वानों का भी प्रभाव है।

"वह प्यारी २ मुग्ध मुख छवि जिसे देखते ही आँख लुभा उठती है, जी जुड़ाता है जिसके धूलि-धूसरित, स्वभाव सुन्दर सुहावने कोमल अंग-प्रत्यंग के दरस-परस को भाग्य हीन जन तरसते हैं—चिरात्सुत स्पर्श रस ज्ञता ययौ—उसका सब रंगढंग जवानी के आते ही अथवा यों कहिए पौगंड बीत जाने पर किशोर अवस्था के पहुँचते ही कुछ और का और हो गया।"

उनकी शैली पर पूर्वीपन का भी प्रभाव लक्षित होता है। वह "समझा बुझाकर" के स्थान पर "समझाय बुझाय" अधिक पसन्द करते थे। इसी से उनमें एक प्रकार का पण्डिताऊपन सा आ गया है, साथ ही सरसता भी है।

उनकी शैली के विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उन्होंने परिचयात्मक तथा भावात्मक शैलियों को अधिक अपनाया। परिचयात्मक शैली की भाषा अधिक चलती हुई है, उसके वाक्य छोटे तथा गठे हुए हैं। किंतु इसमें साहित्यिकता का अभाव सा है। इसके दर्शन उनकी

भावात्मक शैली में होते हैं ।) साहित्यिकता एवं कल्पना के सुयोग से उसका रूप और भी अधिक निखर आया है। इसी से उनके निबन्धों की लोक-प्रियता भी अधिक बढ़ गयी है।

अतएव यह निष्पक्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी में विदग्ध साहित्य का सृजन भट्ट जी ही ने किया है। उनमें भारतेन्दु की अपेक्षा प्रांजलता भी अधिक है। भट्ट जी की गद्य उनमें कहीं अधिक सुधरी हुई है। यही नहीं उनके भावात्मक निबन्ध भी भारतेन्दु से कहीं आगे निकल गये हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि उन्होंने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के काम को और भी आगे बढ़ाया "तथा अपने समकालीन निबन्ध लेखक पण्डित प्रतापनारायण मिश्र जी के ग्रामीण साहित्य- को काट-छाँट कर भट्ट जी ने उसमें नागरिकता और साहित्यिकता लाने का अच्छा प्रयत्न किया है।"

महावीरप्रसाद द्विवेदी

जीवन परिचय——पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली के अन्तर्गत दौलतपुर ग्राम में वैशाख शुक्ला ४ संवत् १६२१ विक्रमी में कान्य कुब्ज परिवार में हुआ था। उनके पिता पं० रामसहाय दुबे कम्पनी की सेना में नौकर थे। उस समय उर्दू का बोल-बाला था ही, अतएव द्विवेदी जी को प्रारम्भ में उर्दू ही सीखनी पड़ी। प्रायमरी शिक्षा के उपरान्त अङ्गरेजी पढ़ने के लिए वह रायबरेली भेजे गये, किंतु आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उनका पढ़ना लिखना बीच में ही छूट गया। इसके उपरान्त वह अजमेर चले गये और १५) मासिक वेतन पर रेलवे में नौकरी कर ली। एक वर्ष के उपरांत वह अपने पिता के पास बम्बई चले आये। यहाँ पर उन्होंने तार का काम सीख लिया तथा रेलवे में ही २५) रुपए मासिक पर नौकरी कर ली। कुछ ही समय पश्चात् वह अपने विभाग के प्रधान क्लर्क भी हो गये। इसी समय बंगालियों के सम्पर्क में आ जाने के कारण उनमें साहित्यिक प्रेम की भावना जागृत हो गयी। उन्होंने प्रारम्भ में कुछ संस्कृत ग्रन्थों का भाषानुवाद किया, तथा साहित्य सेवा व्रत सुचारु रूप से पूर्ण करने के लिए मराठी, गुजराती, बंगाली, अङ्गरेजी आदि में भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। साहित्य सेवा-भावना के अधिक उत्कट हो जाने पर उन्होंने नौकरी छोड़ दी और तन मन से साहित्य-क्षेत्र में उतर कर साहित्य सेवा प्रारम्भ कर दी।

सन् १६०३ में उन्होंने सरस्वती का संपादन प्रारम्भ किया और २० वर्ष तक सफलता पूर्वक उसका सम्पादन करते रहे। इस गुरु सेवा भार से अवकाश ग्रहण कर लेने के उपरान्त भी वह उसके कलेवर को

सजाने के लिए अपने भाव-पूर्ण लेख लिख दिया करते थे। इस प्रकार हम अनुमान लगा सकते हैं कि उनका अधिकांश समय लिखने पढ़ने में ही बीतता होगा। द्विवेदी जी जब आर्थिक सङ्कट में पड़ गये तो रामगढ़ नरेश ने उनकी पर्याप्त सहायता की और इस प्रकार उनको साहित्य-सेवा-कार्य के लिए अग्रसर किया। वह अपने युग के सुप्रसिद्ध साहित्यिक थे। उनकी विद्वत्ता की धाक मान कर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सन् १९३१ ई० में उन्हें सर्व प्रथम "आचार्य" की पदवी से विभूषित किया था। वह कुछ समय तक इस सभा के सभापति भी रहे।

द्विवेदी अत्यन्त सरल प्रकृति के थे, तथा खान-पान आदि सभी नियमों के पालन करने में सचेष्ट रहते थे। वह स्वाभिमानी तथा पूरे निर्भीक थे। जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हें जलोदर रोग हो गया और अन्त में २१ दिसम्बर सन् १९३८ ई० में उनका देहावसान हो गया।

रचनाएँ––द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य के युग-सृष्टा थे। उन्होंने गद्य, पद्य, समालोचना, निबन्ध आदि सभी विषयों पर सफलतापूर्वक अपनी लेखनी चलाई। उन्होंने कुछ ग्रन्थों का अनुवाद भी किया। वे इस प्रकार हैं:—विनय विनोद, स्नेहमाला, बिहार बाटिका, ऋतुतरंगिणी, कुमार संभव, गंगालहरी, वेकन विचार रत्नावली, भामिनी विलास, स्वाधीनता, हिन्दी महाभारत, शिक्षा शास्त्र, रघुवंश, मेघदूत, किरातार्जुनीय विशेष प्रसिद्ध हैं। मौलिक ग्रन्थ (काव्य)—मंजूषा सुमन।

गद्यनैषध चरित चर्चा, हिन्दी कालिदास की समालोचना, दार्शनिक परिभाषा शब्द कोश, नाटक शास्त्र, जल चिकित्सा, हिंदी भाषा की उत्पत्ति शास्त्र, प्राचीन पण्डित और कवि, रसज्ञ रंजन, कालिदास, सुकवि कीर्तन, वक्तृत्व कला, आख्यायिका सप्तक, साहित्य संदर्भ, आलोचनांजलि, समालोचना समुच्चय, प्राचीन चिन्ह, पुरातत्व प्रसङ्ग, साहित्यसीकर, तथा विचार विमर्श विशेष प्रसिद्ध हैं।

भाषा तथा शैली––आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म ऐसे समय में हुआ था जब, भाषा का यत्किञ्चित् परिष्कार हो चुका था,

वह एक अस्त व्यस्त मार्ग को पार करके ऐसे मार्ग पर आ गयी थी, ज
टेढ़ा-मेढ़ा तो था, किन्तु था समतल। द्विवेदी जी ने उस टेढ़ को मिटा
के लिए यथाशक्ति प्रयास किया। उन्होंने भाषा को व्याकरण-सम्मत
बनाया।

वे भाषा को व्यावहारिक बनाना चाहते थे। इसी से वे संस्कृत, फारसी आदि सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों के प्रयोग करने के हामी थे। इसीलिए उनकी शैली न तो संस्कृत तत्सम पदावली के शब्दजाल से ही युक्त हैं और न उर्दू-फारसी मिश्रित शब्दजाल की ही भरमार है। उन्होंने अपने समकालीन दूसरे लेखकों को भी ऐसी ही शैली अपनाने के लिए अग्रसर किया। वह 'गृह' के स्थान पर 'घर' और 'उच्च' के स्थान पर 'ऊँचा' लिखना अधिक पसन्द करते थे।

"जब राजान्तःपुर ही क्यों सारा नगर नन्दनन्दन बन रहा था, उस समय नवला उर्मिला कितनी खुशी मना रही थी, सो क्या आपने नहीं देखा ?"

"कवि स्वभाव से ही उच्छृङ्खल होते हैं। वे जिस तरफ झुक गये, झुक गये। जी में आया तो राई को पर्वत बना दिया; जी में न आया तो हिमालय की तरफ भी आँख उठाकर न देखा।"

"कहने की जरूरत नहीं, गोपियों का अनन्य प्रेम और उनकी निर्व्याज भक्ति देखकर भगवान कृष्ण ने उनकी सेवा की स्वीकार करके उन्हें कृतकृत्य कर दिया।"

इसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने दाद, कुर्बान, अख्तियार, तमीज, किस्मत, गैर, जलवा, शायद, मजबूरी, हासिल, मर्ज, बरदाश्त आदि उर्दू के व्यावहारिक शब्द; शूकर, शावक, दण्ड, विधान, दिन दहाड़े सड़ासड़, तड़ातड़, धाक, बचाखुचा आदि साधारण व्यवहार में आने वाले शब्द तथा सरजन, प्यूरिटन, प्लास्टर. जनरल आदि अङ्गरेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। यही नहीं आकाश पाताल के कुलावे मिलाना, पाप के घड़े भरना, पास न फटकना, काम तमाम करना आदि मुहावरों का भी यथा स्थान प्रयोग किया है।

"यद्यपि अभी दूसरे की चीज को अपनी बताने वालों की कमी नहीं तथापि यह बात खुले खजाने नहीं होती, लुक छिप कर होती है। चोरी से होती है।"

"इस म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सीमैन भी कहते हैं) श्रीमान् बूचाशाह हैं। बापदादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप रूम का नाम ही हैं। चेअरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखला कर आप रायबहादुर हो जाँय और खुशामदियों से आप आठ पहर चौंसठ घड़ी सदा घिरे रहें। म्यूनिसिपैलिटी का काम चाहे चले, चाहे न चले। आपकी बला से।"

द्विवेदी जी ने गम्भीर साहित्यिक विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई है। इनमें इनकी भाषा शैली भी गम्भीर हो जाती है। उनमें कहीं-कहीं पर संस्कृत पदावली भी आ गई है। किन्तु सब होते हुए भी उन्होंने भाषा की बोधगम्यता का विशेष ध्यान रक्खा है। वह भाषा के विषय में स्वयं लिखते हैं—

"बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरों का ख्याल करना चाहिए। जो मुहावरा सर्व-सम्मत है वही प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग दोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ने कवियों तथा गद्य लेखकों—दोनों ही का सम्यग् पथ-प्रदर्शन किया है। विदेशी शब्दों के सम्बन्ध में वह श्यामसुन्दरदास जी का ही मत मानते थे।

"जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जावे।" इस प्रकार

वह शब्दों के भारतीकरण के विशेष पक्षपाती थे। प्रत्येक विषय "सारांश यह है", "तात्पर्य यह है" इत्यादि कह कर वह अपने विषय का स्पष्टीकरण करते हुए आगे बढ़े हैं। इसीसे उनका कोई भी विषय नीरस नहीं होने पाया है।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ने भाषा में समुचित परिष्कार किया और उसके रूप को सुव्यवस्थित किया। भाषा का रूप तो भारतेन्दु में युग में ही निश्चित हो चुका था, किंतु प्रारम्भ काल होने के कारण तथा भारतेन्दु के अत्यन्त अल्पकाल में ही दिवंगत हो जाने के कारण, उनके समुचित दीर्घकालीन सहयोग के न मिलने के कारण, उसमें कुछ विशृङ्खलता रह गयी थी, उसका कुछ परिष्कार भट्ट जी तथा मिश्र जी के सहयोग से हो गया था, रही सही कमी की पूर्ति द्विवेदी जी के कर-कमलों से हो गयी। उन्होंने विरामादि चिन्हों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी तत्कालीन साहित्यिकों का पथ-प्रदर्शन किया, तथा शब्दों के शुद्ध रूपों का भी संस्करण किया। उनका यह कार्य हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है। इसी से वह अपने युग के प्रवर्तक माने जाते हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदास

जीवन-परिचय—बाबू श्यामसुन्दरदास जी का जन्म काशी के एक पंजाबी खत्री खन्ना-वन्श में संवत् १६३२ को हुआ था। देवीदास उनके पिता थे। वह अपने समय के सुप्रसिद्ध टकसाली थे। इसी से श्याम सुन्दरदास का बचपन भी बड़े आनन्द के साथ बीता। यज्ञोपवीत के उपरान्त उनकी संस्कृत व्याकरण तथा धार्मिक ग्रन्थों की शिक्षा प्रारम्भ हुई। कुछ समय पश्चात् अँगरेजी पढ़ने के उद्देश्य से वह नीची बाग के वैसलियन मिशन स्कूल में प्रविष्ट हुए, तदुपरान्त हनुमान—सेमिनरी में प्रविष्ट हुए। यहीं से सन् १८९० में उन्होंने वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास करली। सन् १८९२ में उन्होंने क्वींस कालिजियेट स्कूल से एंट्रेस परीक्षा तथा १८९४ में इण्टर परीक्षा भी पास करली। तथा सन् १८९७ में बी० ए० पास कर लिया। बी० ए० उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त वह स्थानीय चन्द्रप्रभा प्रेस में ४०) मासिक वेतन पर नौकर हो गये, किन्तु सन् १८९९ ई० में वह हिन्दू कालिज में अध्यापक हो गये। यहीं से उनकी ठोस साहित्य सेवा प्रारम्भ हो जाती है।

मातृ भाषा के प्रचारक बिमल बी० ए० पास।
सौम्य शील-विधान, बाबू श्यामसुन्दरदास॥

बाबू जी हिन्दी के सच्चे सेवक थे। उनकी यह सेवा-भावना इसी से प्रगट हो जाती है कि इण्टर के अध्ययन काल में ही उन्होंने अपने इष्ट-मित्रों के सहयोग से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की, जो अद्यावधि अपने द्विगुणित उत्साह से साहित्य-सेवा में संलग्न है। सन् १९१२ ई० में वह लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक नियुक्त हो गये और आठ वर्ष तक सफलता-पूर्वक काम करते रहे।

जौलाई सन् १९२१ ई० में उन्होंने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया। उसी वर्ष में काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य की उच्च शिक्षा देने के लिए उनकी नियुक्ति हो गयी। उन्होंने इस कार्य का संचालन बड़ी सफलता के साथ किया। सन् १९२७ ई० में वह रायसाहब तथा १९३३ ई० में राय बहादुर की पदवी से विभूषित किए गये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें "साहित्य-वाचस्पति" की उपाधि प्रदान कर अपने को कृतार्थ किया, तथा अवकाश-ग्रहण करने के उपरान्त काशी विश्वविद्यालय ने भी डी० लिट् की उपाधि से उन्हें सम्मानित कर अपने को कृत्य-कृत्य किया।

बाबूजी हिन्दी के अनन्य भक्त थे, सच्चे सेवक थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में साहित्य की सर्व प्रकार से सेवा की। अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त भी वह साहित्य की सेवा में ही तत्पर रहे! अगस्त सन् १९४५ ई० में उनका देहावसान हो गया।

रचनाएँ—बाबूजी हिन्दी के प्रधान उन्नायक थे। उन्होंने हिन्दी में मौलिक रचनाएँ भी लिखीं तथा कुछ का अनुवाद भी किया। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की खोज भी की और यथासम्भव शुद्ध संस्करण में उन्हें प्रकाशित करके हिन्दी के भण्डार को अमूल्यनिधि से सम्पन्न किया।

मौलिक ग्रन्थ—साहित्यालोचन, भाषा-विज्ञान, भाषा रहस्य तीन भाग, हिन्दी भाषा का विकास, गद्य कुसुमावली, गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हिन्दी भाषा, रूपक रहस्य इत्यादि।

अनूदित तथा सम्पादित रचनाएँ—पृथ्वीराज रासो, नासिकेतोपाख्यान, छत्र-प्रकाश, वनिता-विनोद, इन्द्रावती भाग १, शकुन्तला नाटक, रामचरित मानस, दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, मेघदूत, परिमाल रासो इत्यादि।

भाषा-शैली—बाबू श्यामसुन्दर दास जी हिन्दी के प्रधान समालोचक, निबन्धलेखक, तथा साहित्यकार थे। उनकी भाषा विशुद्ध

साहित्यिक हिन्दी है। वह विषयानुकूल स्निग्ध, सरल तथा गम्भीर है। सरल विषयों के वर्णन में वह अत्यन्त सरल है किन्तु गंभीर विषयों के विवेचन में वह अत्यन्त गम्भीर एवं साहित्यिक हो गयी है। ऐसे विषयों में उन्होंने संस्कृत तत्सम पदावली को अपनाया है। इतना अवश्य है कि सन्धिज अथवा क्लिष्ट पदावली की इन्होंने भरमार नहीं की। इनके वाक्य अत्यन्त छोटे हैं, किन्तु भाव-मय हैं। वे सिद्धान्त वाक्यों की भाँति अपने अभीष्ट विषय के प्रतिपादन में पूर्ण समर्थ हैं। गम्भीर विषयों के प्रतिपादन में उन्होंने मुहावरों के प्रयोग को भी छोड़ दिया है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि जटिलतम विषय के होने पर भी उनके वाक्य अत्यन्त छोटे हैं। अधिकाँश वाक्य तो साधारण वाक्य हैं और केवल एक ही पंक्ति में पूर्ण हो गये हैं। उनमें सेठ गोविन्द-दास के वाक्यों का सा विस्तार नहीं है। उन्होंने विदेशी शब्दों को भी ग्रहण किया और विदेशी भावों को भी, किन्तु उनको आत्मसात करके। उनका कहना था :—

"जब हम विदेशी भाषाओं के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो ऐसा बनालें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्ण उच्चारण को जीवित रखकर हम उनके पूर्व रूप-रंग, आकार-प्रकार को स्थायी बनाते रहेंगे तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी।"

इस मत के आधार पर एक दो उदाहरण भी देख लीजिए "प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कवि गण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखण्ड भूमण्डल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं।"

"तुलसीदास ने जो कुछ लिखा है स्वान्तः सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व

नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असम्भव है।"

"यह शास्त्र हमको इस बात की छानबीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उनकी उन्नति हुई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकास-वाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जंगली अवस्था में थे। सृष्टि के आदि से सब आरम्भिक जीव समान ही थे पर सब ने एक सी उन्नति न की।"

"जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैल माला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषुमा देखी है अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कलकल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्त श्री को देखने का अवसर मिली है⋯ ⋯उन्हें⋯⋯ उपर्युक्त वस्तुओं में सौन्दर्य क्या ! हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा।"

एक उद्धरण देख लीजिए:—

"यह बात तो सोलहों आने ठीक है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इस का सम्बन्ध देवता और परलोक से है। योग का अर्थ है केवल यह चित्त वृत्ति का निरोध पर प्रत्यक्ष और साधारणीकरण का सम्बन्ध है।"

"जब मानव-मन किसी रागमयी कल्पना से उद्वेलित होकर अभिव्यक्त हो उठता है तब वह अभिव्यक्ति प्रायः गीत रूप में हो जाती हैं।"

बाबू जी की भाषा-शैली की विवेचना के लिए इतने उद्धरण पर्याप्त हैं। "साराँश यह है", "तात्पर्य यह है" कह कर अपने विषयों को स्पष्ट कर देने की उनकी मुख्य प्रवृत्ति थी। इस प्रकार विषय का सिंहावलोकन

भी हो जाता है और विषय की पूर्ण अभिव्यक्ति भी हो जाती है। इस विधि से जटिल से जटिल विषयों तक का सुगमता से स्पष्टींकरण हो जाता है उन्होंने संस्कृत के तत्सम रूपों में भी कुछ परिवर्तन कर दिया है। कार्य, सौन्दर्य, मौर्य्य आदि रूप ही उन्हें अभीष्ट थे, तथा अञ्जन, फन्दा, गङ्गा आदि के पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्बार से ही काम लेकर अंजान, फन्दा, गंगा आदि का ही उन्होंने व्यवहार किया तथा दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिए उपदेश दिया। इस प्रकार वह भाषा के सुधारक भी थे।

(उन्होंने भाषा-विज्ञान के आधार पर कई पुस्तकों की रचना करके हिन्दी साहित्य की जो अभिवृद्धि की है वह स्वर्ण अक्षरों में सदैव ही अङ्कित रहेगी। उन्होंने तुलानात्मक दृष्टि से नागरी अक्षर तथा संस्कृत शब्दों की खोज कीं और उनका प्रचलित रूप निखारा हैं। उनके इस कार्य के लिए हिन्दी-संसार सदैव ही कृतज्ञ रहेगा।)

पंडित रामचन्द्र शुक्ल

जीवन परिचय—हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक एवं विचार-शील लेखक पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी का जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में संवत् १९४१ विक्रमी में हुआ था। उनके पिता श्री चन्द्र-वली शुक्ल सुपरवाइजर कानूनगो थे। संवत् १९४५ में उनकी नियुक्ति हमीरपुर जिले की राठ तहसील में हो गई। शुक्लजी की शिक्षा का श्री गणेश यहीं हुआ। उस समय उर्दू का प्रचार अधिक था, साथ ही इनके पिता उर्दू के समर्थक भी थे, इसी से शुक्ल जी ने आठवीं कक्षा तक उर्दू फ़ारसी फढ़ी घी। बाल्यकाल में उन्होंने घर पर ही संस्कृत की भी शिक्षा पाई। सन् १९०१ में उन्होंने एट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण की तथा इसके तीन वर्ष उपरान्त एफ० ए० परीक्षा भी उत्तीर्ण करली। इसके पश्चात् इन्होंने तहसीलदार की प्रतियोगिता की परीक्षा दी। इसमें शुक्ल जी उत्तीर्ण हो गये। इसी समय वह अँगरेजी आफिस में २०) मासिक वेतन पर काम भी करने लगे। किन्तु उनको यह वृत्ति अच्छी न लगी। बात यह थी कि उस समय अँगरेजी शासन था और 'जी हुजूर' की धूम थी। शुक्ल जी ने अपने पिता को भी इसी प्रवृत्ति में निमग्न देखा। उन्होंने उनकी इस प्रवृत्ति की आलोचना की और स्वयं नौकरी छोड़ दी। शुक्ल जी के इस कार्य से उनके पिता अत्यन्त रुष्ट हो गये। उन्होंने उनकी आर्थिक सहायता भी बन्द कर दी। अतएव विवश होकर उन्हें मिर्जा-पुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर के स्थान पर २५) मासिक वेतन पर ही काम करना पड़ा। वह योग्य तो थे ही। उनकी विद्वत्ता देखकर नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया। वहाँ पर उन्होंने 'हिंदी-शब्द सागर' का सम्पादन किया। इस कार्य में ,सर्वत्र ही उनकी प्रशंसा हुई। इसके उपरान्त उन्होंने और भी कई ग्रन्थों का सम्पादन

किया। इसी समय उन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा। यह हिन्दी साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना है। कार्याधिक्य से शुक्ल जी का स्वास्थ्य गिर गया। उन्हें श्वास रोग हो गया। वह खाट पर गिर पड़े और फिर उठे ही नहीं। अन्त में संवत् १९९७ की माघ शुक्ल ६, रविवार को उनका देहावसान हो गया और उनकी आत्मा परब्रह्म परमात्मा में सदा के लिए विलीन हो गयी।

रचनाएँ—शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के सर्वोत्कृष्ट इतिहासकार हैं। उन्होंने गद्य पद्य में रचनाएँ कीं तथा आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे। उन्होंने कई ग्रन्थों का अनुवाद भी किया। उनके अनूदित ग्रन्थों में "राज प्रबन्ध शिक्षा", "आदर्श जीवन", "विश्व प्रपंच", कल्पना का आनन्द तथा शशाँक विशेष प्रसिद्ध हैं। चिन्तामणि में उनके निबंधों का संग्रह है। त्रिवेणी में सूर, तुलसी, जायसी पर तुलनात्मक आलोचना है। सूरदास और रस मीमाँसा भी उनके आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। उनका "हिन्दी साहित्य का इतिहास" हिदी साहित्य का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। उनका यह ग्रन्थ हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) से पुरस्कृत भी हो चुका है। तथा "चिन्तामणि" मंगला प्रसाद पुरस्कार द्वारा सम्मानित हो चुकी है।

उन्होंने हिन्दी शब्द सागर, भ्रमरगीतसार, तुलसी-साहित्य, जायसी ग्रन्थावली का संपादन भी किया है। इन सभी ग्रन्थों के पाठ-भेद अत्यंत प्रमाणिकता के साथ दिखलाये गये हैं। शुक्ल जी ने ब्रजभाषा में कविता करने की ओर भी प्रयास किया था, किन्तु इस क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता न मिली, अतएव वह गद्य-साहित्य की ओर ही अग्रसर हो गये और उसी के द्वारा हिन्दी साहित्य की सम्बर्द्धना करने लगे।

भाषा शैली—शुक्ल जी ने शुद्ध खड़ी बोली को अपनाया है। इसके साथ ही उन्होंने ब्रज-भाषा और खड़ी बोली में भी कविता की। इस प्रकार उनका दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। यहाँ पर हमें उनकी गद्य-शैली की ही विवेचना करनी है। निबन्ध के विषय में उन्होंने

स्वयं लिखा है—"विचारों की वह गूढ़ गुंफित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का परम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक एक पैराग्राफ में विचार दबा दबाकर ठूंसे गये हों और एक एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिए हों।"
निबन्ध की भाषा तथा शैली पर भी उन्होंने एक स्थान पर लिखा है:—

"खेद है, समास-शैली पर ऐसे विचारात्मक निबन्ध लिखने वाले जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूर्ण अर्थ परम्परा कसी हो दो चार लेखक हमें न मिलें।"

उन्होंने अपने विचार-प्रधान निबन्धों में बुद्धि तथा हृदय दोनों ही का योग दिखलाया है। इस विषय में उन्होंने चिन्तामणि की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है—

"इस पुस्तक में मेरी अन्तरयात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रहती है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुंचती हैं वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है। बस इतना ही निवेदन करके इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निवन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।"

इतनी विवेचना से शुक्ल जी की शैली तो कुछ-कुछ स्पष्ट हो गई होगी अब यहीं पर उनकी भाषा पर भी दृष्टि डाल लें। उनकी भाषा, अत्यन्त परिमार्जित खड़ी बोली तो थी ही, किंतु कुछ स्थानों पर शिष्ट समुदाय में प्रचलित उर्दू के तत्सम शब्द, बोलचाल के प्रचलित शब्द, नव संगठित पारिभाषिक शब्द तथा कुछ अंगरेजी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शुक्ल जी ने भाषा को बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से ही ऐसा प्रयास किया है।

"खारिज, दखल, मौजूद, ताजी, फुरसत, पार, जलूस, फैसन, तारीफ, मुरौवत, बेहया, नामाकूल सदृश व्यावहारिक उर्दू के शब्दों का, लत, परच, ठीकरा, परता, चाट, राह, ढब आदि ग्रामीण बोलचाल के शब्दों के साथ ही साथ, गन्तव्य, अन्तस्सत्ता, तादात्म्य, साधारणीकरण, समन्वय, पार्थक्य, रागात्मक, सापेक्ष, समन्वय आदि विशुद्ध संस्कृत पदावली का भी प्रयोग हुआ है। उन्होंने नए पारिभाषिक शब्द भी गढ़े हैं यथा:—Reaction प्रतिवर्तन, Matter of Fact इतिवृत्तात्मक।"

"व्यक्ति, सम्वन्धहीन सिद्धान्त मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हों, पर प्रवर्तक मन को अव्यक्त रहते हैं। वे मनोरंजनकारी तभी लगते हैं जब किसी व्यक्ति के जीवन क्रम के रूप में देखे जाते हैं।"

"उसके रूप आदि का पूरा परिचय न पाकर भी धारणकर्त्ता उसका हरम के बेगमों से अधिक परदा करता है।

एक छोटी सी रोटी की हकीकत कितनी ? उस पर पहाड़ के सहित जमीन का बोझ लाकर रख दिया। उपमाएँ यदि न मिलीं तो बस शेष शारदा पर फिरे। उनकी इज्जत लेने पर उतारू।"

"पल्लव गुंफिता पुष्प-हास में, पक्षियों के पक्षजाल में, सिद्धराम, सांध्य दिगंचल के हिरण-मेखला-मन्डित घनखंड में, तुषारावृत, तुंग-गिरि शिखर में, चन्द्रकिरण से झलझलाते निर्झर में, न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौन्दर्य की झलक पाता है।"

कहीं कहीं पर उनके वाक्य सूत्र के समान अत्यन्त छोटे किन्तु भावपूर्ण हैं। ऐसे वाक्यों की स्पष्ट व्याख्या करने में पृष्ठ के पृष्ठ भरे जा सकते हैं।

"वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।"
"भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।"

"प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनन्द के साथ नित्य

लक्षण हैं। कर्म भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है—वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।"

उनके निबन्धों में कहीं-कहीं पर हलका सा व्यंग्य भी आ गया है। इससे उनकी वाक्यावली अत्यन्त मार्मिक, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक हो गयी है, एक दो उदाहरण देख लीजिए :—

"मोटे आदमियो! तुम जरा सा दुबले हो जाते, अपने अंदेशे से ही सही, तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।"

"लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप, अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है।"

यह सब होते हुए भी कहीं कहीं पर उनकी भाषा एवं भाव-प्रवाह अत्यन्त जटिल हो गया है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने 'सारांश यह है' 'तात्पर्य यह है' लिखकर विषय का स्पष्टीकरण कर दिया है, साथ ही मुहावरे और कहावतों का भी यथास्थान प्रयोग करके अपने विषयों को बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है। उनके वाक्य पूर्णतया सुगठित हैं। उनमें "है" शब्द भी व्यर्थ के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसी से उनकी शैली में उनका अपना व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। और Style is the man himself की कहावत उन पर पूर्णतया घटती है।

शुक्ल जी ने भाषा का परिष्कार भी किया है। उन्होंने उसको व्याकरण सम्मत बनाने के लिए भी सफल प्रयास किया। उन्होंने विराम आदि चिह्नों के प्रयोगों के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाओं का भी निराकरण किया और उनके स्थान निश्चित कर दिये। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए तन-मन से प्रयास किया। उन्होंने भारतेन्दु

जी के कार्य को, जो द्विवेदी युग में कुछ विकसित हुआ था, और भी आगे बढ़ाया तथा हिन्दी के निबन्ध साहित्य को अधिक परिपक्व किया। उन्होंने सैद्धान्तिक आधार पर निबन्ध लिखकर अपने समकालीन अन्य लेखकों को भी अपने समुन्नत युग का अनुसरण करने के लिए संदेश दिया। उनके निबन्ध हिन्दी साहित्य में तो सर्वोत्कृष्ट हैं ही, विश्व-साहित्य में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके निबन्ध अंगरेजों के शैली, बेकन आदि के निबन्धों की टक्कर के हैं। इसी से उनका मान भी अधिक बढ़ गया है।

बाबू गुलाबराय

जीवन परिचय—हिन्दी के आधुनिक समालोचक एवं उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक बाबू गुलाबराय का जन्म माघ शुक्ल ४ संवत् १९४४ विक्रमी को इटावा नगर के छपैटी मुहल्ले में हुआ था। श्री भवानी प्रसाद जी आपके पिता थे। वह प्रारम्भ से २०) मासिक वेतन पर कचहरी में नौकर थे। वह भगवान के भक्त तथा वेदान्ती थे। आपकी माता भी कृष्ण की भक्त थीं। गुलाबराय जी पर इन सबका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कुछ समय पश्चात् भवानीप्रसाद जी की बदली मैनपुरी हो आई। इस प्रकार बाबू जी का बाल्यकाल मैनपुरी में ही व्यतीत हुआ। यहीं पर उनकी प्रारम्भिक शिक्षा भी सम्पन्न हुई। सबसे पहले आप तहसीली स्कूल में पढ़े, तदुपरान्त अंगरेजी पढ़ने के लिए जिला स्कूल में गये और वहाँ आठवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। इसके उपरान्त उन्होंने सन् १९०५ ई० में मिशन हाई स्कूल से एन्ट्रेंस परीक्षा पास की। तथा १९११ ई० में आगरा कालेज से बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके उपरान्त आप सेण्ट जोंस कालेज में अध्यापक होगये। यहीं से उन्होंने एम० ए० की परीक्षा पास की। एम० ए० करने के उपरान्त आप छतरपुर राज्य में नौकर हो गये। और वहीं से सन् १९१७ ई० में एल० एल० बी० परीक्षा भी पास कर ली। आपने राज्य में महाराजा के प्राइवेट सेक्रेटरी, दीवान तथा बाद में चीफ जज के पद पर सफलता पूर्वक कार्य किया। सन् १९२२ ई० में आपने अवकाश ग्रहण कर लिया।

इधर कुछ समय से आप सेण्ट जोंस कालेज आगरा में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के रूप से अवैतनिक रूप में कार्य कर रहे थे। आपकी इस सेवा के बदले में कालेज भत्ते के रूप में कुछ भेंट भी देता था। इस सेवा

के साथ ही आप हिन्दी आलोचना के प्रमुख-पत्र साहित्य-सन्देश का भी सफलता पूर्वक संपादन कर रहे थे। इससे आपकी साहित्य-सेवा भावना पूर्ण रूपेण स्पष्ट है। परन्तु अब आपने उक्त दोनों कार्यों से अवकाश ग्रहण कर लिया है।

रचनाएँ—बाबूजी हिन्दी के उच्चकोटि के समालोचक तथा लेखक हैं। आपने अपने मौलिक ग्रन्थों के साथ ही साथ कुछ ग्रन्थों का सम्पादन भीं किया है।

मौलिक रचनाएँ—फिर निराश क्यों ? शान्ति धर्म, मैत्री धर्म, कर्तव्य शास्त्र, तर्कशास्त्र, बौद्ध-धर्म, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, नवरस।

प्रबन्ध प्रभाकर, तथा प्रबन्ध माला में आपके निबन्धों का संग्रह है।

हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, हिन्दी नाट्य विमर्श, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप, प्रसाद की कला, साहित्य और समीक्षा आदि प्रसिद्ध आलोचनात्मक रचनाएं हैं। आलोचना कुसुमांजलि में समालोचना के विविध रूपों पर प्रकाश डाला गया है। जीवन पथ में जीवन से सम्बन्ध वाले मौलिक निबन्धों का संग्रह है। ठलुआ क्लब हास्यरस की रचना है तथा मेरी असफलताओं में आत्मकथा के रूप में जीवन का कुछ परिचय है।

भाषा भूषण, सत्य हरिश्चन्द्र, युगधारा कादम्बरी, कथासार आदि सम्पादित ग्रन्थ हैं। आपने बाल साहित्य के लिए भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। इनमें विज्ञान विनोद तथा 'बाल प्रबोध' अधिक महत्वपूर्ण हैं।

आपका अधिक समय निबन्ध तथा समीक्षात्मक आलोचनाएं लिखने में ही व्यतीत होता है। जो समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं।

भाषा और शैली—बाबू जी की भाषा तत्सम पदावली युक्त खड़ी बोली है। उसमें कहीं कहीं पर सन्धिज शब्दों के साथ कुछ चलते मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है। न्याय्य, साहाय्य, स्वस्थानोचित, ऐक्योन्मुख, सापेक्षत्व, प्रस्तरीभूत, आदि संस्कृत शब्दों के साथ शायद,

हर एक, पुर्जा, खराब रिवाज, मतलब जैसे उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। आपने यत्र तत्र कम्पोजीटर, केमरा, ग्रामोफोन आदि अंगरेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया है।

"जो ब्राह्मण के लिये कर्तव्य है वह क्षत्रिय के लिए अकर्तव्य है। सब एक लाठी से नहीं हांके जा सकते। समाज में यदि सभी लोग मनन शील बन जायँ तो उसका चलना कठिन हो जाय। यही विभाग करके हिंदू धर्म ने कर्तव्य के सापेक्षत्व को भली भाँति दिखाया है.""समाज, के आदमी को नष्ट करना और उस संस्थाओं की संगति करना ही धर्मोद्धारक का मुख्य कर्तव्य होता है।"

"कीचड़ से ही कमल की स्थिति है। गुलाब भी कटीले वृक्ष में उगता है। मोती सीप से उत्पन्न होता है। रत्नाक्षार समुद्र से निकलता है। मणि खान से निकलती है। गजमौत्तिक हस्ती के मस्तक से निकलती है।"

अपनी कहानी के सम्बन्ध में स्वयं लिखते हैं:—

"मैंने अपने जीवन में कोई कहानी नहीं लिखी, इसलिए नहीं कि वह लिखने योग्य चीज नहीं है, वरन् इसलिए कि मुझ में कहानी लिखने की योग्यता नहीं।

आप अपनी कवित्व-शक्ति के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखते हैं।

"कवि हृदय पाकर भी मैं कविता नहीं लिख सका। इसका कारण यह है कि जब तक गहरी वेदना न हो तब तक कल्पना जाग्रत नहीं होती"' '''इसके अतिरिक्त मैं संगीत नहीं जानता। इस कमी के कारण कभी कभी ठोक पीट कर मैंने दो एक वर्ण वृत्त लिख लिए, किन्तु मात्रिक छन्द नहीं लिख सका। चार छः गद्य काव्य अवश्य लिखे हैं।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आप सभी प्रकार की भाषा लिखने में समर्थ हैं। आप संस्कृत एवं दर्शन शास्त्र के पण्डित हैं। इसका प्रभाव आपकी सभी रचनाओं पर है। इसी से उनमें गम्भीरता अधिक आ गयी है। जहाँ कहीं विषय अत्यधिक जटिल है, भाषा भी दुरूह सी हो गयी है। उसमें एक प्रकार की नीरसता आ गई है जिससे पाठकों का मन उस ओर से हट जाता है। इतना अवश्य है कि बाबूजी ने पाण्डित्य

प्रदर्शन की भावना से ऐसा प्रयास नहीं किया है। विषय के गम्भी
होने के कारण भाषा का जटिल होना सुतरां अपेक्षित ह
आपके विषय में एक कहावत चल निकली है। "आपके भाषण शु
होते हैं, कैसी भी बड़ी सभा क्यों न हो, आपका भाषण प्रारम्भ क
दिया जावे, बस थोड़ी ही देर में धीरे-धीरे अधिकांश श्रोतागण स
भवन खाली करते चले जावेंगे।"

कुछ भी हो आपके सम्बन्ध में इतना कहना तो सर्वथा उचित
है कि आपकी भाषा सरल और व्यावहारिक है, किन्तु दार्शनिक वि
के निगूढ़ तत्वों के समाधान में वह अधिक गम्भीर एवं जटिल हो ग
है, वह साधारण पाठकों के काम की नहीं रह गयी है। यदि देखा ज
तो साधारण पाठक दर्शन-शास्त्र में ध्यान लगाते ही कहाँ हैं।
विषय में आप स्वयं लिखते हैं।

"इसी दार्शनिकता के कारण मेरी रचनाओं में अनावश्यक
नहीं आने पातीं। मैं अपनी अल्पज्ञता के कारण अपने लेख को अ
पाण्डित्यपूर्ण भी नहीं बना सकता, यद्यपि पाण्डित्य का आभास
अवश्य दे लेता हूँ।" किन्तु—

"अब मैं प्राय गम्भीर बातों में भी हास्य का समावेश करने ल
हूँ। जहाँ हास्य के कारण अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना हो अथ
अत्यन्त करुण प्रसंग हो तो मैं हास्य से बचूंगा अन्यथा मैं प्रसंगा
हास्य का उतना ही स्वागत करता हूँ जितना कि कृपण क्या, कोई
अनायास आए हुए धन का।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बाबू जी की भाषा भावानुकूल है। उ
में बल है, और भावाभिव्यंजना की पूर्ण शक्ति है। उसमें एक प्रकार
चमत्कार है जो सुधी वृन्द को सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है
इसी से आपका निबन्ध साहित्य भी अत्यधिक महत्व-पूर्ण हो गया है
उसकी गणना आजकल सर्वोत्कृष्ट निबन्ध-साहित्य में होती है।

प्रकाशक
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी-१

प्रमुख वितरक
हिन्दी प्रचारक प्रतिष्ठान
सी. के. १८/८, आदिविश्वेश्वर
वाराणसी-१ [फोन : २६४८]

मूल्य : ५६ पैसे मात्र